# गद्य-प्रसून

सम्पादक—

**कैलाशनाथ भटनागर एम० ए०**

प्रोफेसर, सनातनधर्म कालेज, लाहौर

लेखक—नाट्यसुधा, भीमप्रतिज्ञा, कुणाल,

सम्पादक—मालविकाग्निमित्रम्,

ऊरुभङ्गम, आदि

अप्रैल १९३८

द्वितीय संस्करण

मूल्य १।≡)

प्रकाशक—योगेन्द्रपाल
साहित्य-भवन,
हस्पताल रोड, लाहौर



मुद्रक—
मायाराम लखनपाल
भारती प्रिंटिंग प्रेस,
हास्पिटल रोड, लाहौर।

# भूमिका

हिन्दी साहित्य भी अन्य भाषाओं के समान अब बहुत विस्तृत हो गया है। पहले जहाँ रामचरितमानस, सूरसागर, बिहारी-सतसई आदि पद्य-ग्रन्थों की भरमार थी, अब वहाँ दिन प्रतिदिन गद्य-ग्रन्थ दृष्टिगोचर होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि पद्य-ग्रन्थों का अब अभाव हो गया है, किन्तु यह कि पद्य-ग्रंथों की अपेक्षा गद्य-ग्रंथ अधिक मात्रा में प्रकाशित होते हैं। हिन्दी पद्य के गौरव का यह एक कारण है कि उसमें किसी अन्य भाषा की रचना की छाया नहीं। रामचरितमानस, सूरसागर, बिहारी-सतसई जैसे अपूर्व ग्रंथों की टक्कर की कदाचित् अन्य भाषा में कोई पुस्तक ही न हो! परन्तु हिन्दी गद्य की बात और है। हिंदी गद्य में जो सर्व प्रथम रचनाएँ प्रकाशित हुईं उनका अधिकांश अनुवाद मात्र था। अनुवाद से मेरा अभिप्राय यह नहीं कि यह घृणास्पद है, अग्राह्य है। बल्कि यह कि साहित्य में हम उसे मौलिकता का रूप नहीं दे सकते। साहित्य की मौलिकता पर साहित्य का गौरव, साहित्य का आदर्श आश्रित होता है। अस्तु। प्राचीन काल में पद्य सब विषयों के लिए लेखबद्ध करने का उपयुक्त माध्यम समझा जाता था। संस्कृत में देखिये, काव्य के अतिरिक्त व्याकरण, शिल्प, ज्योतिष आदि सभी विषय पद्य-मय ग्रंथों में ही भरे हैं। परन्तु

शिल्प आदि जैसे जो टेकनिकल (technical) विषय हैं,वे पद्यमें पनपे ही नहीं। यह बात हिंदी साहित्य में नहीं है। कविता के बाद साहित्य में गद्यमय रचनाओं का प्रादुर्भाव होने लगा। आख्यायिका, उपन्यास, निबंध समालोचनात्मक लेख इत्यादि पद्य की अपेक्षा गद्य में ही ठीक लिखे जा सकते हैं। उपरोक्त विषयों के लिए अतएव गद्य का आश्रय लिया गया। गद्य को, कई कहते हैं, कवियों की कसौटी है। (गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति)।

हिन्दी गद्य की एक क्षीण रेखा बहुत पहले से दिखाई देती है, पर उसका सम्यक् स्पष्टीकरण १७ वीं शताब्दी से होता है। गोस्वामी गोकुलनाथ द्वारा रचित वचनामृत एक गद्य-ग्रंथ मिलता है। आप महात्मा सूरदास के समकालीन थे। आपके पहले का गद्य बहुत अपभ्रष्ट और प्रान्तीयता के दोषों से भर रहा है। गोस्वामी गोकुलनाथ के बाद के उपलब्ध ग्रन्थों में हिंदी भाषा से मिलता-जुलता गद्य दिखाई देता है। एक में यदि व्रजभाषा की प्रधानता है तो दूसरे में अवधी की। १६वीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी गद्य का रूप निश्चित हो जाता है। इस काल में पंडित लल्लू लाल, मुंशी सैय्यद इन्शा अल्लाह खां और पंडित सदल मिश्र हुए। इनके बाद राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हुए। राजा शिवप्रसाद ने भाषा की नई शैली चलाई। कहीं तो संस्कृत मिश्रित हिन्दी थी और कहीं फ़ारसी मिश्रित हिन्दी। परन्तु इस शैली का आदर नहीं हुआ। राजा लक्ष्मणसिंह के गद्य में हिन्दी

गद्य का परिमार्जित रूप दिखाई देता है। इनका शकुन्तला नाटक का अनुवाद खूब सत्कृत हुआ। परन्तु यह गद्य-पद्य-मय अनुवाद होने के कारण केवल गद्य-रचना नहीं कहा जा सकता। बाबू हरिश्चन्द्र के समय में रही-सही न्यूनता भी पूर्ण होगई। गद्य में सजीवता आ गई, सौंदर्य चमक उठा। तब से इस परिष्कृत हिंदी गद्य की लेखकगण उत्तरोत्तर संख्या में सेवा कर रहे हैं। भिन्न-भिन्न लेखक की रचना-शैली पृथक् होती है, भाव और विचारक्रम में असदृश्यता रहती है। यहाँ तक कि एक ही लेखक की भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाओं में लेखन शैली में विषमता आ जाती है। लेखक यदि वीर-रसमय रचना कर रहा है तो शब्द, वाक्य-विन्यास और ही प्रकार का होगा, शान्त-रसमय रचना में शब्द शैली भिन्न होगी, और शृङ्गार-रसमय रचना में शब्द-सौष्ठव और वाक्य-शृङ्खला पृथक् होगी। इस प्रकार गद्य के अङ्ग में कई विभाजन हो गए हैं। किसी को एक शैली रुचिकर है, किसी को दूसरी। इस संग्रह में मैंने आधुनिक हिंदी गद्य के उच्च कोटि के लेखकों की रचनाओं का समावेश किया है। इसमें कुछ लेख बङ्गला से अनूदित भी संगृहीत हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बाबू बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय, बाबू द्विजेन्द्र लाल राय, गोबर गणेश संहिता के रचयिता बाबू हरिदास हालदार के लेख उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, आचार्य महावीर प्रसाद, श्री पद्मसिंह, श्री श्यामसुन्दरदास, श्री रामचन्द्र शुक्ल, तथा अन्य कई उच्च लेखकों की शैली का नमूना दे दिया है। इससे विद्यार्थी केवल लेखन-शैली से ही परिचित न

होंगे वरंच इन उत्कृष्ट सुलेखों के भाव विचार आदि के अध्ययन से उनकी अपनी बुद्धि भी विकसित होगी। एक ही स्थान पर कई एक विषयों की सामग्री संगृहीत मिल जायगी।

इस संग्रह में मैंने लेख प्रायः साहित्य सम्बन्धी ही रखे हैं। चार-पाँच लेख चरित्र-पालन, अनुकरण, उत्साह, आशा, वीरता पर भी दे दिए हैं। इन लेखों से भी विद्यार्थियों की विचार-शक्ति परिपक्व होगी।

अन्त में मैं उन सब लेखकों को धन्यवाद देता हूँ जिनके लेख इस संग्रह में दिए हैं।

लाहौर<br>११-६-३६

—कैलाशनाथ भटनागर

# विषय-सूची

# गद्य-प्रसून

# रामायण

## ( श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर )

( श्रीयुत दीनेशचन्द्र सेन की 'रामायणी कथा' की भूमिका )

साधारणतः काव्य के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कवि की बात होती है और दूसरा वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज की बात होती है।

केवल कवि की बात कहने से यह न समझना चाहिए कि वह बात ऐसी है जो औरों की समझ में नहीं आ सकती; ऐसा होने से तो उसे एक प्रकार का प्रलाप ही कहा जायगा। कवि की बात का तात्पर्य उसकी सामर्थ्य से है जिसमें उसके सुःख-दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से, संसार के सारे मनुष्यों के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।

जैसे ये एक प्रकार के कवि हैं वैसे ही दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके, उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है।

इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती इनका आश्रय लेती है। ये जो रचना करते हैं, वे किसी व्यक्तिविषेश की लिखी मालूम नहीं पड़ती। कहने का अभिप्राय यह कि उनकी उक्तियाँ देशमात्र और जातिमात्र को मान्य होती हैं। उनकी रचना उस बड़े वृक्ष की सी मालूम होती है जो देश के हृदयरूपी भूतल से उत्पन्न होकर उस देश भर को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा हो। शकुन्तला और कुमारसम्भव में कालिदास की कलम का कौशल दिखलाई पड़ता है किन्तु रामायण और महाभारत, हिमालय और गंगा की भाँति ही, भारत के मालूम होते हैं—व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष्य मात्र हैं। भावार्थ यह कि इनके पढ़ने से भारत झलकने लगता है, व्यास और वाल्मीकि नहीं।

वस्तुतः व्यास और वाल्मीकि किसी का नाम नहीं था, नामकरण मात्र ही इनका उद्देश्य है। इतने महान् दो ग्रन्थ समस्त भारतव्यापी दो काव्य, अपने रचयिता कवियों के नाम लुप्त कर बैठे हैं। कवि अपने काव्यों के अंदर ही लुप्त हो गये हैं। सारांश यह कि आज समस्त भारतवासी रामायण और महाभारत का नाम लेने के सिवा उनके रचयिता वाल्मीकि और व्यास के नाम नहीं लेते।

हमारे देश में जैसे रामायण और महाभारत हैं, वैसे ही ग्रीस में इलियड था। वह सारे ग्रीस के हृदय-कमल से उत्पन्न हुआ था और उसी हृदय-कमल में विराजमान था। कवि होमर ने अपने देश और काल को अपना भाषारूपी कंठ दिया था—देशकाल की

अवस्था को भाषा-निबद्ध किया था। ऐसे महाकवियों के वाक्य झरनों के समान अपने अपने देश के अन्तस्तल से मिलकर बहुत दिनों से उसे आप्लावित करते आये हैं।

किसी आधुनिक काव्य में ऐसी व्यापकता नहीं देखी जाती। मिल्टन के 'पेरेडाईज लास्ट' में भाषा का गाम्भीर्य, छन्दों का औचित्य रसों का परिपाक कितना ही क्यों न हो, पर वह देश का धन नहीं है, उससे केवल पुस्तकालय की ही शोभा हो सकती है।

अतएव कुछ प्राचीन काव्यों को एक श्रेणी में रखकर यदि उनका नामकरण किया जाय, तो वह नाम 'महाकाव्य, के सिवा और क्या होगा? यह महाकाव्य प्राचीनकाल के देवताओं और दानवों के समान ही विशालकाय थे। अब इनकी जाति लुप्त होगई है। सारांश यह कि अब संसार भर में कहीं भी महाकाव्यों का अवतार नहीं होता।

प्राचीन आर्य-सभ्यता की एक धारा यूरोप में और दूसरी भारत में प्रवाहित हुई है। यूरोप की धारा दो महाकाव्यों में और भारत की धारा भी दो ही महाकाव्यों में अपने अपने देशों के वृत्तान्तों और संगीतों को सिञ्चित करती आ रही है।

हम लोग विदेशी हैं, इससे हम निश्चय से नहीं कह सकते कि ग्रीस का प्राकृतिक चित्र पूर्णतः उसके काव्यों में उतरा है कि नहीं, पर रामायण और महाभारत में भारतवर्ष का सर्वाङ्गसम्पन्न चित्र उतरने में कुछ भी कोर-कसर नहीं रही है।

अतएव शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं

किन्तु रामायण और महाभारत का स्रोत भारत में नाम को भी शुष्क नहीं होता ! प्रति दिन गाँव गाँव, घर घर, उनका पाठ होना रहता है। क्या बाज़ार की दूकानों पर और क्या राजा के दरवाजों पर, सर्वत्र उनका समान भाव से आदर होता है। वे दोनों महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो काल के महा प्रान्तर में लुप्त हो गये हैं, किन्तु जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियों के द्वार द्वार पर अपनी निरन्तर प्रवहमान धाराओं से शक्ति और शान्ति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को दिनोंदिन बहा लाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाये हुए है।

ऐसी अवस्था में रामायण और महाभारत को केवल महाकाव्य कहने से ही काम न चलेगा। वे इतिहास भी हैं,किन्तु घटनावलियों के नहीं। क्योंकि वैसे इतिहास किसी विशेष समय की विशेष घटना के आधार पर खड़े होते हैं, पर रामायण वा महाभारत भारतवर्ष के पुराने इतिहास हैं, अन्यान्य इतिहास समय पर परिवर्तित हो गये हैं, पर रामायण और महाभारत में परिवर्तन नहीं हुआ। भारतवर्ष की जो साधना, जो आराधना और जो संकल्प है उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशाल-काय काव्य-प्रासादों के भीतर चिरकालिक सिंहासन पर विराजमान है।

अतएव रामायण और महाभारत की आलोचना अन्यान्य काव्यों की आलोचना के आदर्श से स्वतन्त्र है। राम का चरित्र उच्च है या नीच,लक्ष्मण का चरित्र हमें अच्छा मालूम होता है या बुरा, इतनी ही आलोचना यथेष्ट नहीं समझी जायगी। संयत होकर

श्रद्धा के साथ विचार करना होगा कि समस्त भारत हजारों वर्ष से इन पुरुषों को किस दृष्टि से देखता आ रहा है।

रामायण में भारतवर्ष क्या कहता है, रामायण में भारतवर्ष ने किस आदर्श को महान् स्वीकार किया है, इसी विषय का इस समय हमें सविनय विचार करना चाहिये।

सर्वसाधारण की यह धारणा है कि वीर-रस-प्रधान काव्य ही 'एपिक' कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि जिस देश में, जिस समय वीररस के गौरव को ही प्रधानता मिली है, उस देश में, उस समय, स्वभावतः ही एपिक वीररस-प्रधान हो गया है। रामायण में भी युद्ध व्यापार यथेष्ट है; राम का बाहु-बल भी सामान्य नहीं है, तथापि रामायण में जो रस सर्वापेक्षा प्रधान है वह वीर-रस नहीं है। उसमें बाहुबल की विजय-दुन्दुभी नहीं बजी है। युद्ध-घटना उसके वर्णन का मुख्य विषय नहीं है।

देवता की अवतार लीला अवलम्बन करके यह काव्य बनाया गया हो, सो भी नहीं है। कवि बाल्मीकि के निकट राम अवतार नहीं थे, मनुष्य ही थे, इस बात को पण्डित-मण्डली मण्डित करेगी। इस भूमिका में पाण्डित्य प्रकाश करने का अवकाश नहीं है। यहाँ संक्षेप में सिर्फ़ यही बात कही जा सकती है कि कवि यदि रामायण में नर-चरित्र का वर्णन न करके देव-चरित्र का वर्णन करते, तो रामायण के गौरव का ह्रास हो जाता, महत्व में न्यूनता आ जाती। इतना ही नहीं, वह काव्यांश में भी क्षतिग्रस्त हो जाता। मनुष्य होने से ही राम-चरित्र इतना महत्त्व-पूर्ण है।

बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में वाल्मीकि ने अपने काव्य के उपयुक्त नायक के अनुसन्धान में सारे गुणों का उल्लेख करके नारद से पूछा—

"समग्रा रूपिणी लक्ष्मीः कमेकं संश्रिता नरं।"

मूर्त्तिमती समग्र लक्ष्मी ने किस एकमात्र मनुष्य का आश्रय लिया है ? तब नारद ने कहा—

"देवेष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्।
श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमाः ॥"

इन गुणों से युक्त पुरुष तो देवताओं में भी नहीं हैं। हाँ, जो नर-चन्द्र इन गुणों से पूर्ण हैं, उनकी बात सुनो।

रामायण में उसी नर-चन्द्र का वृत्तान्त है, देवता का नहीं। रामायण में देवता अपने को हीन बनाकर मनुष्य नहीं हुआ है, बल्कि मनुष्य ही अपने गुणों से उच्च होकर देवता हो गया है।

मनुष्य के चूडान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से आज तक मनुष्य के उस आदर्श-चरित्र-वर्णन का पाठ भारतवासी अत्यन्त आग्रह और परम समादर के साथ करते आ रहे हैं।

रामायण का प्रधान विशेषत्व यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित हुई हैं। पिता-पुत्र में, भाई भाई में, स्वामी-स्त्री में धर्म-बन्धन है, जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है, उसको रामायण ने इतना महत् बना दिया है कि वह बहुत ही सहज में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है। साधारणतः

महाकव्यों में देश-विजय, शत्रु-संहार, दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों के प्रचण्ड घात-प्रतिघात. आदि सारे व्यापार आन्दोलन. और उद्दीपन के सचारक होते हैं। किन्तु रामायण की महिमा राम-रावण के युद्ध से नहीं है, यह युद्ध-घटना राम और सीता की दाम्पत्य-प्रीति को उज्ज्वल बनाने के लिए उपलक्ष्य मात्र है। पिता के प्रति पुत्र की वश्यता. भाई के लिए भाई का आत्मत्याग, पति-पत्नी में परस्पर की निष्ठा और प्रजा के प्रति राजा का कतव्य कहाँ तक पहुँच सकता है, यही रामायण में दिखलाया गया है। इस प्रकार प्रधानत: व्यक्ति विशेष के गृह-चरित्र किसी भी देश के महाकाव्य में इस प्रकार वर्णनीय विषय नहीं समझे गये हैं।

इससे केवल कवि का ही परिचय नहीं होता भारतवर्ष का भी परिचय होता है। भारत में गृह और गृह-धर्म का कितना महत्व है. यह इसी से समझा जा सकता है। हमारे देश में गार्हस्थ्य-धर्म सब से ऊँचा था. इस बात को यह काव्य प्रमाणित करता है। गृहस्थाश्रम हमारे निज के सुख और सुविधा के लिए नहीं था; वह सारे समाज को धारण किये रहता था और मनुष्य को यथार्थत: मनुष्य बनाये रखता था। गृहाश्रम भारतीय आर्य समाज की भित्ति है और रामायण उसी का महाकाव्य। रामायण ने उस गृहाश्रम को विसदृश अवस्था में डालकर बनवास के दु:ख से गौरवान्वित किया है। मन्थरा और कैकेयी के कुटिल कुचक्र के कठिन आघात से अयोध्या का राजगृह दुरवस्थापन्न हो गया था, तथापि गृह धर्म ज्यों का त्यों दृढ़ बना रहा था और इसी गृह-धम की दुर्भेद्य दृढ़ता

की घोषणा रामायण कर रही है। रामायण ने बाहुबल का नहीं, जिगीषा का नहीं, राष्ट्र-गौरव को नहीं, केवल शान्त-रसास्पद गृह धर्म को ही, करुणा के अश्रुजल से अभिषिक्त कर, महान् शौर्य्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया है।

अश्रद्धालु पाठक कह सकते हैं कि ऐसी दशा में चरित्र- वर्णन अतिशयोक्ति से परिपूर्ण हो जाता है। यथार्थता की सीमा कहाँ तक है और कल्पना की कौन सी सीमा है, जिसके लङ्घन से काव्य-कला अतिशयोक्ति में परिणत हो जाती है, इसकी मीमाँसा हो ही नहीं सकती। विदेशी समालाचकों ने यह जो कहा है कि रामायण में चरित्र-वर्णन अप्राकृत और अतिरञ्जित हो गया है, उनको यह उत्तर दिया जा सकता है कि प्रकृति-भेद से जो एक के निकट अप्राकृत है, वही दूसरे के निकट प्राकृत है। भारतवर्ष नहीं देखता कि रामायण में आप्राकृत की अधिकता है।

जहाँ का जो आदर्श प्रचलित है, वह यदि अतिरञ्जित कर दिया जाय, तो वहाँ वालों को वह अरुचिकर हो जायगा, वे उस आदर्श को ग्राह्य ही नहीं कर सकेंगे। हम अपने श्रुतियन्त्रों या कानों में शब्द-तरङ्गों के जितने आघात उपलब्ध कर सकते हैं, उनकी एक सीमा है। उस सीमा के ऊपर के सप्तक में सुर चढ़ाने से हमारे कान उसे ग्रहण ही नहीं कर सकते, वह बरदाश्त के बाहर हो जाता है। काव्य में चरित्र और भावों को उद्भावना के सम्बन्ध में भी यही बात घटती है।

ऊपर की बात यदि सत्य है, तो हजारों वर्षों में यह प्रमाणित

हो चुका है कि रामायण की कथा को भारतवर्ष किसी भी अंश में अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं समझता। इस रामायण की कथा से भारतवर्ष के जनसाधारण, आबाल-वृद्ध-वनिता केवल शिक्षा ही नहीं पाते, आनन्द भी पाते हैं, केवल इसे शिरोधार्य ही नहीं करते, हृदय में भी रखते हैं, और यह उनका केवल धर्म-शास्त्र ही नहीं है, काव्य भी है।

राम हमारे लिए देवता-स्वरूप हैं, साथ ही मनुष्य-स्वरूप भी हैं। यह महाग्रंथ हमारी भक्ति का और साथ ही प्रीति का भी पात्र हुआ है। ऐसा होना कभी सम्भव नहीं था, यदि रामायण का कवित्व भारत के लिए केवल सुदूर कल्पना-लोक की ही सामग्री होता, हमारी संसार-सीमा के भीतर न होता।

ऐसे ग्रंथ को यदि विदेशी समालोचक अपने काव्य-विचारों के आदर्शानुसार अप्राकृत कहें, तो उनके देश के साथ तुलना करने में भारतवर्ष की एक विशेषता और भी प्रस्फुटित होती है। अर्थात् जो भारतवर्ष चाहता है, रामायण में उसे वही मिला है।

रामायण और महाभारत को मैं विशेषतः इसी भाव से देखता हूँ। इनके सरल छोटे छोटे अनुष्टुप् छन्दों में हज़ारों वर्षों के भारत का हृत्पिण्ड स्पन्दित हो रहा है।

मित्रवर श्रीयुत दीनेशचन्द्र सेन महाशय ने जब स्वलिखित रामायण-चरित्र की आलोचना के लिये मुझ से भूमिका लिख देने का अनुरोध किया, तब अस्वस्थता और समयाभाव होने पर भी मैं उनके अनुरोध को अस्वीकार न कर सका। कवि-कल्पना

को भक्त की भाषा में दुहरा कर के उन्होंने अपनी भक्ति को चरितार्थ कर लिया है। हमारे विचार से ऐसी भक्ति और पूजा की आवेगमिश्रित व्याख्या ही रामायण की यथार्थ समालोचना है। इसी उपाय से एक हृदय की भक्ति दूसरे हृदय में संचारित होती है। हमारी आजकल की समालोचना बाज़ार भाव करना है क्योंकि साहित्य अब बाज़ार की चीज़ हो गई है। पीछे से कहीं मुँह की न खानी पड़े, इस लिये चतुर जाँचनेवालों-पारखियों का आश्रय ग्रहण किया जाता है, किन्तु तब भी मैं यही कहूँगा कि यथार्थ समालोचना पूजा ही है और समालोचक-पुजारी या पुरोहित है। वह अपने अथवा सर्वसाधारण के भक्ति-विगलित विस्मय को ही प्रकाशित करता है।

भक्त दीनेशचन्द्र ने उस पूजा-मन्दिर के प्राङ्गण में खड़े होकर आरती आरम्भ कर दी है। उन्होंने अचानक ही मुझे घंटा बजाने का भार सौंप दिया है। मैं भी एक बगल में खड़ा होकर यह काम कर रहा हूँ। मैं अधिक आडम्बर करके उनकी पूजा को प्रच्छन्न करना नहीं चाहता। मैं केवल यही जताना चाहता हूँ कि पाठकगण वाल्मीकि के राम-चरित को केवल काव्य समझ कर ही न देखें, उसे समस्त भारतवर्ष का रामायण समझें। ऐसा होने से ही वे रामायण के द्वारा भारत को और भारत के द्वारा रामायण को यथार्थतः जान सकेंगे। पाठकों को यह ख़याल रखना होगा कि यह कोई ऐतिहासिक गौरव-कथा नहीं है, भारत ने जिस आदर्श-[illegible] मानव-चरित्र को सुनना चाहा था, आज

तक वह उसे ही अविरत आनन्द के साथ सुनता आ रहा है। भारत ने यह कभी नहीं माना कि इसमें जो बातें लिखी गई हैं, वह बढ़ा-चढ़ा कर लिखी गई हैं, और न उसने कभी उसे केवल काव्य-कथा ही कहा है। भारतवासियों के लिये घर के लोग भी उतने सच्चे नहीं, जितने सच्चे राम, लक्ष्मण और सीता हैं।

परिपूर्णता की ओर भारतवर्ष की एक प्राणोपम आकांक्षा, एक बड़ी गहरी ममता है। भारत ने वास्तविक सत्य की सीमा के परे कह कर इसका कभी अनादर नहीं किया, अविश्वास नहीं किया। इसका भी उसने यथार्थ सत्य माना है और इससे उस ने आनन्द भी उठाया है। उसी परिपूर्णता की आकांक्षा को ही उद्बोधित और तृप्त करके रामायण के कवि ने भारत के भक्त हृदयों को सदा के लिए मोल ले लिया है।

जो जाति खंड-सत्य को प्रधानता देती है, जो लोग वास्तविक सत्य का अनुसरण करने में क्लान्ति का अनुभव नहीं करते, जो काव्य को प्रकृति का दर्पण मात्र समझते हैं वे संसार में समय के उपयोगी अनेकों कार्य करते हैं वे विशेष धन्यवाद के भाजन हैं, मानव-जाति उनके निकट ऋणी है। दूसरी ओर, जिन लोगों ने यह कहा है कि "भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" (पूर्णता ही सुख है, उसी को जानने का प्रयत्न करना चाहिए) और परिपूर्ण परिणाम में ही समस्त खंडता की सुषमा को, समस्त विरोधों की शान्ति को पाने के लिए साधना की है, उनका ऋण भी किसी काल में परिशोधित नहीं हो सकता। उनका परिचय

विलुप्त होने से, उनके उपदेश भूल जाने से, मानव-सभ्यता अपने धूलि-धूम-समाकीर्ण कारखाने के जन-समूह में, निश्वास-दूषित वायु से घिरे हुए शून्य में, पल पल पर पीड़ित और कृश होकर मरने लगेगी। रामायण उन्हीं अखंड-अमृत पिपासुओं का चिर-परिचय धारण किये हैं। इसमें जो सौभ्रात्र, जो सत्यपरता, जो पातिव्रत्य, जो प्रभु-भक्ति वर्णित है; उसकी ओर यदि हम सरल श्रद्धा और आन्तरिक भक्ति रख सकें, तो हमारे कारखाने की खिड़कियों में, महासमुद्र की निर्मल वायु प्रवेश कर सकती है।

---

# वात्सल्य रस

( श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय )

(बालक परमात्मा का अधिक समीपी कहा जाता है, उस में सांसारिक प्रपञ्च नहीं पाया जाता। जितना वह सरल होता है, उतना ही कोमल। छल उसे छूता नहीं, कपट का उस में लेश नहीं। उस के मुखड़े पर हँसी खेलती रहती है, और उस की चमकीली आंखों से आनन्द की धारा बहती जान पड़ती है। उस के मुस्कराने में जो माधुर्य्य है, वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। वह जितना ही भोलाभाला होता है, उतना ही प्यारा। उस की तुतली बातें हृत्तन्त्री में सङ्गीत उत्पन्न करती हैं और उसके कलित कण्ठ का कलनाद कानों में सुधा बरसाता है। वह दाम्पत्य सुख का सर्वस्व है, भाग्यवान् गृहस्थ-गृह का उज्ज्वल प्रदीप है। और है स्वर्गीय लीलाओं का ललित निकेतन। परमात्मा का नाम आनंद स्वरूप है, बालक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है)। एक उत्फुल्ल बालक को देखिये, इस मधुर नाम का सार्थकता उस के प्रत्येक उल्लास से हो

जावेगी। बालकों की इस आनन्दमयी मूर्त्ति का चित्रण अनेक भावुक कवियों ने बड़ी ही मार्मिकता से किया है। इस रस-समुद्र में जितना हा डूबा, वह उतना ही भावरत्न सञ्चय करने में समर्थ हुआ।

बाल भावों का चित्रण करने में, उन के आनन्द और उल्लासों के वर्णन में कविकुल शिरोमणि सूरदास जी की सुधावर्षिणी लेखिनी ने बड़ी ही मार्मिकता दिखलाई है— आहा! देखिये

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि-लेप किए॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन-तिलक दिए।
लट लटकनि मनोमत्त मधुपगन मादक मदहिं पिए॥
कठुला कण्ठ बज्र, केहरी-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य "सूर" एको पल या सुख का सत कल्प जिए॥ १॥

हों बलि जाऊं छबीले लाल की।
धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलन बचन-रसाल कं॥
छिटिक रहीं चहुँदिसि जु लटुरिया लटकन लटकति भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कण्ठ कमल-दल माल की॥
कछुकै हाथ कछू मुख माखन चितवनि नैन विसाल की।
सूर सु प्रभु के प्रेम मगन भई ढिग न तजनि ब्रजबाल की॥ २॥

× × × ×

हिन्दी-साहित्य-गगन-मयंक गोस्वामी तुलसीदास जी का कवित्व संबंधी सर्वोच्च सिंहासन बाललीला वर्णन में भी सर्वोच्च ही रहा है। क्या भावसौन्दर्य, क्या शब्दविन्यास सभी बातों में उनकी कीर्त्तिपताका भगवती वीणापाणि के उच्चतर करकमलों में ही विद्यमान है।

\+ + +

बालकों में कैसी आकर्षणी शक्ति होती है, उनके भाव कितने भोले होते हैं उन में कितनी विनोदप्रियता रंजनकारिता और सरसता होती है, ऊपर की रचनाओं को पढ़कर यह बात भली भाँति हृदयंगम हो गई होगी। ऐसे बालक किसके वल्लभ न होंगे कौन उन्हें देख कर उत्फुल्ल न होगा, कौन उन्हें प्यार न करेगा, और वे किसके उल्लास सरोवर के सरसीरुह न बनेंगे? माँ-बाप के तो बालक सर्वस्व होते हैं, ऐसी अवस्था में उनको देख कर उनके हृदय में अनुराग सम्बन्धी अनेक सुन्दर भावों का उदय होना स्वाभाविक है। माँ-बाप अथवा गुरुजनों का यह भाव परिपुष्ट होकर विशेष आस्वाद्य होजाता है, वही कुछ सहृदय जनों की सम्मति है कि, वह वात्सल्य रस कहलाता है। अधिकतर अचार्यों ने नौ रस ही माने हैं, वे वात्सल्यभाव को अलग रस नहीं मानते। इस भाव ही को नहीं, बड़ों का छोटों के प्रति जो अनुराग होता है, उन सब को वे वात्सल्य कहते हैं और "रति" स्थायी भाव में उनका अन्तर्भाव करते हैं। उन लोगों का विचार है कि रस का जितना परिपाक शृङ्गार में होता है, वात्सल्य में नहीं, अतएव इसको वे "भाव" ही मानते हैं, रस नहीं।

वास्तव में विशेष उत्कर्ष प्राप्त, हृदयग्राही, व्यापक, अनिर्वचनीय आनन्दप्रद और अधिकतर मनोमुग्धकर भाव ही रस कहलाता है। दुग्ध की स्वाभाविक सरसता और मधुरता कम नहीं, किन्तु अवट जाने पर जब वह अधिक गाढ़ा हो जाता है, और सुस्वादु मेवों के साथ जब उस में सिता भी सम्मिलित हो जाती है तो उसका आस्वाद कुछ और ही हो जाता है। रसों की भी कुछ ऐसी ही अवस्था है। नाट्यप्रणेता कहते हैं जिसका भाव यह है—

'रस के बिना भाव नहीं और भाव के बिना रस नहीं होते। इन रस और भावों की सिद्धि एक दूसरे पर निर्भर है।"

+ × +

जिस प्रकार यह सत्य है कि अधिक सम्मति नव रस सम्बन्धिनी है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि कुछ मान्य विद्वानों ने वात्सल्य रस को भी दशवाँ रस माना है। उनमें मुनीन्द्र और साहित्यदर्पणकार का नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।"

अर्थात् स्पष्ट चमत्कारक होने के कारण वत्सल को भी रस कहा गया है।

भोजदेव ने भी अपने "शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ में वत्सल को रस माना है, और रसों की संख्या दश बतलाई है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी अपने 'नाटक' ग्रन्थ में वत्सल को रस माना है।

"प्रकृतिवाद" बंगला का एक प्रसिद्ध कोष है । उसके रच-यिता बङ्ग-भाषा के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। वे रस शब्द का अर्थ बतलाते हुए लिखते हैं, जिसका आशय यह है:—

"कोई कोई वात्सल्य को भी रस कहते हैं, उनके मत से रस दश प्रकार का होता है ।

साहित्यदर्पणकार ने वत्सल को रस मानने का कारण उस का स्पष्ट चमत्कारक होना बतलाया है, साथ ही उस को मुनीन्द्र सम्मत भी लिखा है ।

\+ + + +

अब देखना यह है कि वात्सल्य में रस होने की योग्यता है या नहीं ।

\+ + + +

किसी भाव को रस मानने के लिये यह आवश्य है कि वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा परिपुष्ट हो । यह बात वत्सल रस में पाई जाती हैं। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"प्रकट चमत्कारक होने के कारण वत्सल रस भी मानते हैं। इसमें वात्सल्य स्नेह स्थाई भाव होता है। पुत्रादि इसके आल-म्वन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव हैं । अंगस्पर्श, सिरचूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि इसके अनुभाव है। अनिष्ट की आशङ्का, हर्ष गर्व आदि संचारी भाव माने जाते हैं।

यदि कहा जावे कि अपने विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा स्थायी वत्सलता स्नेह उतना परिपुष्ट नहीं होता, जो रसत्व को प्राप्त हो तो यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। यह सच है कि उद्-बुद्ध मात्र कोई स्थायीभाव तब तक रस नहीं माना जा सकता जब तक उसमें स्थायिता और विशेष रसपरिपुष्टि न हो, किन्तु जो रस माने जाते हैं उनसे वत्सल रस किसी बात में न्यून नहीं है, उसमें भी विशेष स्थायिता और रसपरिपुष्टि है। काव्य-प्रकाशकारने रस के जो व्यापक और मनोभावद्योतक लक्षण बतलाये हैं उन पर मैं वात्सल्य रस को कसता हूँ। आशा है कि उससे प्रस्तुत विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा। वे लक्षण ये हैं—

(१) रसों का आस्वाद पानक रस समान होता है।

(२) वे स्पष्ट झलक जाते हैं।

(३) हृदय में प्रवेश करते हैं।

(४ सर्वाङ्ग को सुधारस-सिंचित बनाते हैं।

(५) अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते हैं।

(६) ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होते हैं।

(७) अलौकिक चमत्कृति रखते हैं।

दूध, मिसरी, बादाम आदि पदार्थों का बना हुआ एक प्रकार का शर्बत पानक रस कहलाता है। अनेक वस्तुओं के सम्मे-लन से जो रस बनता है उसका स्वाद जैसे उन भिन्न-भिन्न वस्तुओं से भिन्न और विलक्षण होता है, उसी प्रकार विभाव अनुभावादि के आधार से बने हुए रस का आस्वाद भी उन सबों से अलग और

विलक्षण होना चाहिए। वात्सल्य रस में यह बात पाई जाती है। बालकों की बालक्रीड़ा देखकर माता-पिता में जो तन्मयता होती है वह अविदित नहीं। उनकी तोतली बातों को सुन कर उनके हृदय में जो रस-प्रवाह होता है, क्या वह अपूर्व और विलक्षण आस्वाद-मय नहीं होता? माता-पिता को छोड़ दीजिये कौन मनुष्य है जिसे बाललीला विमोहित नहीं करती? देखिये, निम्नलिखित पद्य में इस भाव का विकास किस सुन्दरता से हुआ है।

वर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिनमाल अमोलन की।
घुँघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करै तुलसी बलिजाऊँ लला इन बोलन की।

वात्सल्य स्नेह विभाव, घुँघुरारी लटें, बोलन आदि उद्दीपन मधुर छवि-अवलोकन आदि अनुभव, और हर्ष संचारी भाव के मिलन से जिस रस का आस्वाद आस्वादकारिणी को हुआ है, जो पद्य के प्रति पदों में छलक रहा है, क्या पानक रसके आस्वाद्य से कहीं विलक्षण नहीं है? क्या विमुग्धता का स्रोत उस में नहीं बह रहा है?

सरित, सरोवर आदि में लहरें उठती ही रहती हैं किन्तु सब लहरें न तो स्पष्ट होती हैं न यथातथ्य दृष्टिगोचर होती हैं। यही बात मानस-तरंगों अथवा हृदय के भावों के विषय में भी कही जा सकती है। अनेक लहरें हृदय में उठती हैं और तत्काल विलीन हो जाती हैं। किन्तु कुछ भावों की लहरें ऐसी होती हैं, जो स्पष्ट झलक

छाती हैं और उन में स्थायिता भी होती है। रस प्राप्त भाव ऐसे होते हैं। वात्सल्य रस भी ऐसा ही है

+ + + +

जिसने कभी बालकों के साथ खेला है, वह जानता है कि उस समय कितनी तन्मयता हो जाती है। बालक उस समय जो कहता है. वही करना पड़ता है । उस समय वास्तव में अन्य वेद्य विषय तिरोहित होजाते हैं, यदि न हों तो खेल का रंग ही न जमेगा, यदि खेल का रंग न जमा तो बाल-विलास का आनन्द ही जाता रहेगा । प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ग्लाडस्टोन एक दिन अपने पौत्र के साथ खेल रहे थे और पौत्र उनकी पीठ पर सवार होकर उन से घोड़े का काम ले रहा था । उसी समय उनसे मिलने के लिये एक सज्जन आये, और उनका यह चरित्र देख कर उनके पास ही कुछ दूर पर खड़े हो गये । किन्तु वे अपनी क्रीड़ा में तन्मय थे। बहुत देर तक उनका ध्यान ही उधर नहीं गया, खेल समाप्त होने पर जब यह बात ज्ञात हुई तो वे हँस पड़े। बोले, आशा है आप के यहाँ भी लड़के होंगे। इसी को कहते हैं, वेद्य विषय का तिरोभाव।

रस का परिपाक ब्रह्मानन्द समान अनुभूत होता है, इस की वास्तवता चिन्तनीय है। वीभत्स रस एवं भयानक और रौद्र में इसकी चरितार्थता कैसे होगी? हाँ। शांत, शृङ्गार, करुण, अद्भुत और विशेष दशाओं में हास्य और वीर में भी इस लक्षण की सार्थकता हो सकती है। भक्ति-रस में तो यह लक्षण पूर्णता को पहुँच जाता है, वत्सल रस में भी उसका पर्याप्त विकास दृष्टिगत होता

है। संसार में जो आनन्द स्वरूप परमात्मा का कोई मूर्त्तिमान आकार है, तो वह बालक है। ब्रह्म के संसार से निर्लिप्त होने का भाव जो कहीं मिलता है, तो बालक में मिलता है। दुःख सुख में सम बालक ही देखा जाता है, निरीहता उसी में मिलती है। फिर वात्सल्य रस ब्रह्मानन्द का सहोदर क्यों न होगा ? गोस्वामी तुलसी दास जी का इसी भाव का एक बड़ा सुन्दर पद है, जो अपने रंग में अद्वितीय है।

माता लै उछंग गोविन्द मुख बार बार निरखै।
पुलकित तनु आनन्द घन छन छन मन हरखै॥
पूछत तोतरात बात मातहि जदुराई।
अतिशय सुख जाते तोहि मोहि कहु समझाई॥
देखत तव बदन कमल मन आनन्द होई।
कहै कौन ? रसन मौन जानै कोई कोई।
सुन्दर मुख मोहि दिखाउ इच्छा अति मोरे।
मम समान पुन्य पुंज बालक नहीं तोरे॥
तुलसी प्रभु प्रेम वस्य मनुजरूप धारी।
बाल–केलि–लीला–रस–व्रजजन हितकारी॥

तुतलाकर लीलामय ने पूछा, तुझको अपार सुख किस में है ? माता ने कहा—तेरा कमल वदन देखकर मन आनन्दित होता है। कैसा आनन्द होता है इसको कौन कहे, रसना तो चुप है, इसको कोई कोई जनता है लीला मय ने कहा—वह सुन्दर मुखड़ा मुझे दिखला। माता ने कहा—मेरे समान तेरा पुण्य पुंज कहाँ !

यहाँ पर ब्रह्मानंद को भी निछावर कर देने को जी चाहता है। संसार में बालक के मुख अवलोकन के आनन्द का अनुभव माता ही को हो सकता है। और कोई संसार में इस अनुभव का पात्र नहीं, पिता भी नहीं। बालक कृष्ण भी पिता ही के वर्ग का है इसी लिये माता ने कहा—तेरा पुण्य पुंज ऐसा कहाँ! फिर जो आनन्द ऐसा अलौकिक और अनिर्वचनीय है कि जिसको रसना भी नहीं कह सकती, जिसको कोई कोई जानता ही भर है, किन्तु कह वह नहीं सकता, उसे वे कैसे कहें यही तो ब्रह्मानन्द है! जिसकी अधिकारिणी कोई कोई यशोदा जैसी भाग्यशालिनी माता ही हैं स्वयं अवतारी बालक कृष्ण भी नहीं। अपने मुख को आप कोई कैसे देख सकता है जब तक विमल बोध का दर्पण सामने न होवे।

चमत्कार के विषय में तो वात्सल्य रस वैसा ही चकितकर है; जैसा कि स्वयं बालक। जब बालक-मूर्त्ति ही चमत्कारमयी है तो उस से सम्बन्ध रखनेवाले भाव चमत्कृत क्यों न होंगे! बालक का जन्म-काल कितना चमत्कारमय है और उस समय चारों ओर कैसा रस का स्रोत उमड़ पड़ता है, इसका अनुभव प्रत्येक हृदयवान् पुरुष को प्राप्त है। उस समय के गीतों के गान में जो झङ्कार मिलती है,सोहरों में जो विमुग्धकारी ध्वनि पाई जाती है वह किसी दूसरे अवसर पर श्रुति-गोचर नहीं होती। संतान ही-वंशवृद्धि का आधार, पिता का आशास्थल माता का जीवन-सर्वस्व, और संसार-बीज का संरक्षक है। उसी में यह चमत्कार है कि जैसी ममता उसकी पशु पक्षी कीट पतंग को होती है, वैसी ही देवता मनुष्य और दानवों को

भी। उसकी लीलाएँ जितनी मनोरंजिनी हैं, जितनी उसमें स्वाभाविकता और सरसता मिलती है, मानवजीवन की किसी अवस्था में उतनी मनोरंजन आदि की सामग्री नहीं पाई जाती। ये बातें भी चमत्कार शून्य नहीं। नीचे मैं वात्सल्य रस का एक पद्य लिखता हूँ, आप देखें इसमें कैसा स्वभाव-चित्रण और कविता-गत चमत्कार है। बालक सरल और कोमल होते हैं, वैसे ही उनके भाव और विचार भी कोमल होते हैं। उद्धृत कविता में आपको उनका बड़ा ही मनोहर स्वरूप दिखलाई पड़ेगा।

मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लिपटायो॥
देखि तुही छींके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नँद नंदन दोना पीठ दुरायो।
डारि सांट मुसुकाई तबहिं गहि सुत को कण्ठ लगायो॥
बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप दिखायो।
सूरदास प्रभु जसुमति के सुख शिव विरंचि बौरायो॥

शिव विरञ्चि बावले बने हों या न बने हों, किन्तु महात्मा सूरदास जी का बड़ी ही सजीव भाषा में सहज बाल स्वभाव का चित्रण अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राही है। एक एक चरण में विमुग्धकारी भाव हैं और उन को पढ़ कर रसोन्माद सा होने लगता है। चमत्कार के लिये इतना ही बहुत है। शिव विरञ्चि का उन्माद तो बड़ा ही चमत्कारक है, सम्भव है हमारे दिव्यचक्षु महा-

कवि ने इस को अवलोकन किया हो। बालक कृष्ण की विचित्र लीला क्या नहीं कर सकती।

+ + + +

जो कसौटी मैंने वात्सल्यरस को कसने की ग्रहण की थी, मेरे विचार से उस पर कस जाने पर वात्सल्य रस पूरा उतरा। इस के अतिरिक्त जब मैं विचार करता हूँ तो वात्सल्य रस उन कई रसों से अधिक व्यापक और स्पष्ट है जिन की गणना नवरस में होती है। हास्यरस का स्थायीभाव हास है, हास मनुष्य समाज तक परिमित है, पशु पक्षी कीट पतङ्ग नहीं हँसते, किन्तु वात्सल्य रस से ये जीव जन्तु भी रहित नहीं, चींटी तक अपने अण्डे-बच्चों के पालन में लगी रहती हैं, मधु-मक्खियाँ तक इस विषय में प्रधान उद्योग करती दृष्टिगत होती हैं। यदि वनस्पति सम्बन्धी आधुनिक आविष्कार सत्य हैं, और उनमें भी स्त्री पुरुष मौजूद हैं, तो वत्स और वात्सल्य भाव से वे भी वञ्चित नहीं हैं, फिर भी "हास्य को रस माना गया और वात्सल्य इस कृपा से वञ्चित रहा। वीभत्स में भी न तो वत्सल इतनी रसता है, न व्यापकता, न सञ्चरणशीलता, फिर भी वह नव रस में परिगणित है और "वत्सल" को वह सम्मान नहीं प्राप्त है। बीभत्स रस भी मानव समाज तक ही परिमित है, इतर प्राणियों में उस के ज्ञान का अभाव देखा जाता है। इस दृष्टि से भी वत्सल की समानता वह नहीं कर सकता, तथापि वह उच्च आसन पर आसीन है। वत्सल रस का साहित्य नि.संदेह थोड़ा है, इस विषय में वह रस संज्ञक स्थायी भावों का

सामना नहीं कर सकता। हिन्दी भाषा के किसी आचार्य्य अथवा प्रतिष्ठित विद्वान् ने 'वत्सल'' को रस नहीं माना, इस लिये उसकी कविता साहित्य ग्रन्थों में प्रायः दुष्प्राप्य है। केवल बाबू हरिश्चन्द्र ने उसको रस माना है, किन्तु उनकी इस रस की कोई कविता मुझे देखने में नहीं आई। जितने हिन्दी भाषा में रस सम्बन्धी ग्रंथ हैं, उन सब में आवश्यकतावश नव रस की कविता मिलती है किंतु यह गौरव वत्सल को नहीं मिला। साहित्य से किसी भाव की व्यापकता का पता चलता है, क्योंकि इससे जन समुदाय की मानसिक स्थिति का भेद मिलता है। अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस विषय में वत्सल रस उतना सौभाग्यशाली नहीं है। फिर भी मैं यही कहूंगा कि हिन्दी संसार में जितना साहित्य वात्सल्य रस का पाया जाता है, वह अद्भुत, अपूर्व और बहुमूल्य है। कवि शिरोमणि सूरदास और कविकुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी की वत्सल रस सम्बन्धी रचनाएँ अल्प नहीं हैं, और इतनी उच्च कोटि की हैं कि उनकी समानता करने वाली कविता अन्यत्र दुर्लभ है। वत्सल रस के साहित्य के गौरव और महत्व के लिये मैं उनको यथेष्ट समझता हूँ, क्योंकि वे जितनी हैं, उतनी ही अलौकिक मणि समान हिन्दी-संसार-क्षेत्र को उद्भासित करने वाली हैं। आज कल बाल-साहित्य के प्रचार के साथ वत्सल रस की विभिन्न प्रकार की सरस रचनाओं का भी प्राचुर्य्य है। ज्ञात होता है, कुछ दिनों में शृङ्गार, हास्य, वीर आदि कतिपय बड़े बड़े रसों को छोड़कर इस विषय में भी वात्सल्य

रस साधारण रसों से आगे बढ़ जावेगा। यदि इस एक अंग की न्यूनता स्वीकार कर लें तो भी अन्य व्यापक लक्षणों पर दृष्टि रख कर मेरा विचार है कि वत्सल की रसता सिद्ध है, और उसको रस मानना चाहिये। मतभिन्नता के विषय में कुछ वक्तव्य नहीं, वह स्वाभाविक है।

---

# उपन्यास-रहस्य

( श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी )

——:०:——

आजकल हिंदी-साहित्य में उपन्यास-नामधारिणी पुस्तकों की भरमार हो रही है। इन पुस्तकों में प्राय: ६५ फ़ी सदी पुस्तकें उपन्यास कदापि नहीं, और चाहे जो कुछ हों। उपन्यासों और क़िस्से-कहानी की पुस्तकों की चाह होने के कारण अधिकारी और अनधिकारी सभी लेखक 'अव्यापारेषुव्यापार:' करने में व्यस्त हैं। जो यह भी नहीं जानते कि मानस-शास्त्र भी कोई शास्त्र है, जो यह भी नहीं जानता कि चरित्र-चित्रण किस चिड़िया का नाम है, जिसे इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं कि उसकी पुस्तक के पाठ से पाठक का चरित्र बिगड़ेगा या बनेगा, वह भी उपन्यास लिख-लिख कर नाम नहीं तो दाम उपार्जन करने की फ़िक्र में हैं। इस तरह की चेष्टायें कभी-कभी अत्यन्त उपहास्य मार्गों का अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिये दवाओं, पुस्तकों तथा अन्य चीज़ों के दुकानदार कोई अंड-बंड कहानी गढ़ लेते हैं। फिर बीच-बीच अपनी चीज़ों का विज्ञापन देकर उस पुस्तक का कोई भड़कीला

औपन्यासिक नाम रखते हैं। तब उसे प्रकाशित करते और बेचते हैं। अभी एक ही हफ्ता हुआ होगा, हमने एक ऐसा उपन्यास देखा, जो किसी स्कूल या कालेज के किसी छात्र की रचना है। रचयिता ने भूमिका में यह बात बड़े गर्व से लिखी है कि मैंने दो-ढाई सौ सफे का यह उपन्यास दसही पन्द्रह रोज में लिख डाला है। पुस्तकें लिखने का उत्साह बुरी बात नहीं। पर अनधिकार चेष्टा की कुछ सीमा भी तो होनी चाहिए। यह न होना चाहिए कि विच्छू का तो मंत्र न जाने और सांप के बिल में हाथ डाले। कुरुचिवर्धक पुस्तक लिखने से लेखक को अर्थ-लाभ हो सकता है, पर उससे समाज को हानि पहुँचती है। अतएव इस तरह के लेखक समाज की दृष्टि में दंडनीय हैं।

साहित्य का एक अंग उपन्यास भी है। यह अंग बड़े महत्त्व का है। यह संस्कृत-भाषा के प्राचीन ग्रंथ-साहित्य में पाया जाता है। पर अंकुर-रूप ही में इसके दर्शन होते हैं। हाँ, जैन-लेखकों ने इस तरह के कुछ अच्छे अच्छे ग्रंथ ज़रूर लिखे हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है। सम्भव है, ऐसी पुस्तकें बहुत रही हों, पर वे सब अब उपलब्ध नहीं। इन पुस्तकों में कथा-कहानियों के बहाने धर्म्मतत्व और सदाचार की शिक्षा दी गई है। इनको छोड़कर संस्कृत-भाषा में लिखी गई कथासरित्सागर, कांदबरी, वासबदत्ता और दशकुमार-चरित आदि पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती, मानस-शास्त्र के आधार पर किये गये चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को नहीं मिलती। हाँ, किसी हद तक इनसे मनोरञ्जन ज़रूर होता है। बस।

प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्हीं ने साहित्य के इस अङ्ग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है--उन्हीं ने इसे कला का रूप दिया है। उन्हों ने इस अङ्ग के कलानिरूपण-सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं, आख्यायिका किसे कहते हैं, उन में क्या गुण होने चाहिए, उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है, इत्यादि।

यह बात नहीं कि जिन लोगों ने पश्चिमी पण्डितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रंथ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा उपन्यास लिख ही नहीं सकते। जिन को मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ़ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है, वे पश्चिमी पंडितों के तत्त्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।

साहित्य के इस अङ्ग में बंग-भाषा के कई सुलेखक कृतकार्य्य हुए हैं। विद्यमान लेखकों में कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर, इस समय, सबसे आगे हैं। उनके गोरा नामक उपन्यास में सुनते हैं, अच्छे उपन्यास के अनेक गुण पाये जाते हैं। तथापि बँगला-भाषा के उपन्यास लेखकों में भी अच्छे लेखक बहुत थोड़े हैं, अधिकता बुरे उपन्यास लिखने वालों ही को है। इन पिछले लेखकों को

विषाक्त रचना से सामाजिक बंधनों की ग्रंथि शिथिल हो जाने का डर है। खेद है, हिंदी में इस तरह के चरित्र नाशक उपन्यासों ही के अनुवाद अधिकता से हो रहे हैं। बंगला के अच्छे उपन्यासों के अनुवादों के दर्शन बहुत ही कम होते हैं इस दृश्य में सन्तोष की बात इतनी ही है कि समझदार लेखक और प्रकाशक अच्छे और बुरे उपन्यासों का अन्तर अब कुछ-कुछ समझने लगे हैं।

उस दिन इलाहाबाद के "लीडर" नामक अंग्रेज़ी भाषा के दैनिक पत्र का एक अंक हमने खोला तो उसका एक सफ़े का सफ़ा एक समालोचान से भरा दिखाई दिया। उस पर नज़र डाली तो प्राचीन समय के कुछ नाम देख पड़े। आरम्भ का कुछ अंश पढ़ने पर मालूम हुआ कि यह तो हिन्दी के दो उपन्यासों की आलोचना है! तब हमने उसे साद्यंत पढ़ा। समालोचना थी करुणा और शशांक नामक दोनों उपन्यासों की। जिन मौर्य्य नरेशों को हुए हज़ारों वर्ष हो चुके उनके समय के समाजिक और राजनैतिक दृश्य इन उपन्यासों में दिखाये गये हैं। यह बात हमने इस समालोचना ही से जानी; क्योंकि इन पुस्तकों को हमने स्वयं नहीं देखा। मूल रचना एक बंगाली पुरातत्वज्ञ की है। अतएव उपन्यासों के गुण दोषों के उत्तरदाता वही हैं। समालोचना में पुस्तकों की खूब स्तुति-प्रशंसा थी। यदि इन पुस्तकों में उस ज़माने के रहन-सहन, आचार-विचार वस्त्राच्छादन, रीती-रवाज, राजनैतिक चाल आदि हो के दृश्य हों तो भी पुस्तकें अच्छी ही कही जाएंगी। और यदि समाज के कल्याण की दृष्टि से उनसे कुछ शिक्षा भी मिलती हो तो फिर

कहना ही क्या है। हाँ, यदि उनमें उस ज़माने के सामाजिक दोष के भी उल्लेख हों—और वे दोष समाज के लिये हानिकारी हों—तो बात ज़रा विचारणीय हो जायगी, क्योंकि कुछ पंडितों की सम्मति में ऐसे दृश्य दिखाना वांछनीय नहीं। हाँ, जो लोग समाज का सच्चा ही चित्र, चाहे वह भला हो चाहे बुरा, दिखाना उपन्यासकार का कर्तव्य समझते हैं वे अवश्य इस संबन्ध में मीनमेख न करेंगे। अस्तु, यह तो अवांतर बात हुई। "लीडर" में प्रकाशित समालोचना का उल्लेख हमने और ही मतलब से किया है। वह यह कि अब अँगरेज़ी भाषा के सैकड़ों उपन्यास चाट जानेवाले लोग भी हिंदी में लिखे गये उपन्यास पढ़ने लगे हैं और अख़बारों के लम्बे-लम्बे चार-चार पाँच-पाँच कालमों में उनकी आलोचना भी करने लगे हैं। अच्छे समझ कर ही अँगरेज़ी-दाँ समालोचक ने पूर्वोक्त पुस्तकों की समालोचना लिखने और छपाने का श्रम उठाया है। फिर चाहे उसने स्वतः प्रवृत्त होकर यह काम किया हो, चाहे किसी के इशारे या प्रेरणा से किया हो।

ऊपर जिन दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ, वे अनुवादमात्र हैं। हिन्दी के सौभाग्य से इन प्रांतोंमें एक ऐसे भी उपन्यास लेखक प्रकाश में आ रहे हैं जिनके उपन्यास, सुनते हैं, उन्हीं की उपज है। "सुनते हैं", इसलिए, क्योंकि हमको उनकी उपज का स्वतः कुछ भी ज्ञान नहीं। उनके जिन दो उपन्यासों की आलोचनाओं और विज्ञापनों की धूम कुछ समय से है, वे हमारे देखने में नहीं आये। उनका एक उपन्यास प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। दूसरा अभी हाल ही में

निकला है। उस का नाम सेवाश्रम, या कुछ इसी तरह का है। इन उपन्यासों की जहाँ और अनेक लेखकों ने स्तुति और प्रशंसा की है, तहाँ एक आध ने पिछले उपन्यासों में बहुत से दोष भी ढूंढ़ निकाले हैं और व्याख्या सहित उन्हें दिखाया भी हैं। दोषोद्भावना करने में दोषदर्शक ने उपन्यास लेखक के कानूनी अज्ञान, मनः शास्त्र विषयक अज्ञान, सामाजिक नियम सम्बन्धी अज्ञान आदि दिखाने का प्रयत्न किया है। यह अज्ञान परम्परा उपन्यास लेखक, के किसी पक्षपाती को मान्य नहीं हुई और सम्भव है, खुद लेखक को भी मान्य न हो। इसी से कृताक्षेपों का खण्डनात्मक उत्तर भी कहीं हम ने पढ़ा है। स्मरण तो यही कहता है।

अच्छा, तो उपन्यासों के गुण दोषों की परख क्या है? इसके उत्तर में हम अपनी तरफ से अधिक नही लिख सकते और लिखना भी नहीं चाहते, क्योंकि हम इस विषय के ज्ञाता नहीं। अतएव हम उपन्यास-रहस्य के कुछ ज्ञाताओं के कथन के आधार पर ही कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

मनुष्य जो काम करता है, मन की प्रेरणा से करता है। और मन से सम्बन्ध रखने वाला एक शास्त्र ही जुदा है। वह मानस शास्त्र या मनोविज्ञान कहाता है। उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उन में स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना ज़रूरी है। विना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा

सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसा काम होता है अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य्य की उत्पत्ति होती है, इस का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उनके कार्य्य कारण सम्बन्ध का ज्ञान हो। अतएव उपन्यास लेखक के लिये मनोविज्ञान के कम से कम स्थूल नियमों का जानना अनिवार्य्य होना चाहिये। उपन्यास लिखने वाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किये उस का काम चल नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिए। उस के घटनानिवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषता और अतिरञ्जना न होनी चाहिये। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखक को मनःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अन्यथा भाव विश्लेषण ठीक ठीक नहीं हो सकता।

उपन्यास रहस्य के ज्ञाताओं के दो दल हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया, वह पहिले दल की सम्मति है। इस सम्मति का सारांश यह है कि मनोविज्ञान या मानस शास्त्र के नियम जहां जहाँ ले जायँ उपन्यासकार को वहीं वहीं जाना चाहिए और तदनुसार ही घटनावलियों और चरित्रों की सृष्टि करनी चाहिए। अनिष्ट प्राप्ति से मनुष्य का मन विचलित हो उठता है और वह विलाप करने लगता है। यह मानसिक नियम है। पहिले दल के कायल लेखक इसी का अनुगमन कर के घटना-निर्माण करेंगे। यदि किसी पक्के वेदांती या विरागी को अनिष्ट लाभ से कुछ भी दुःख न हो तो वे उसे अपवाद या नियम-विरुद्ध बात समझेंगे।

दूसरे दल के अनुयायियों का कहना है कि मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो ज़रूर मानना चाहिये, पर सदा ही उन से अपनी विचार परम्परा को जकड़ लेना ठीक नहीं। सभी घटनाओं और सभी भावों के सम्बन्ध में मन:शास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी रोचक और स्वाभाविक नहीं हो सकती। क्यों कि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखण्ड सत्ता नहीं देखी जाती। मन:शास्त्र में जिस कारण से जैसे कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य नहीं उत्पन्न होता। अतएव जैसी घटनाये लोक में हुआ करती हैं और मनुष्य-समाज में जैसे कार्य-कारण-भाव देखने में प्राय: आया करते हैं तदनुकूल ही उपन्यास रचना होनी चाहिए। मनुष्य का मानसिक भाव उसे जिस अवस्था को ले जाय उसी का वर्णन करना चाहिये, इस बात की परवा न करनी चाहिए कि मनोविज्ञान के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती, अतएव इसका वर्णन त्याज्य है। घटनावाली के निदर्शन और भावों के चित्रण की जड़ में मनोविज्ञान रहे ज़रूर, पर वह छिपा हुआ रहे। शरीर के भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रह कर शरीर-संगठन में सहायता देता है, वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिये। जो इस खूबी को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियमों के पचड़े को गुप्त रख कर चरित्र चित्रण करते हैं, उन्हीं के उपन्यासों का अधिक आदर होता है।

मानसिक नियमों का पालन दृढ़ता पूर्वक करके कोई किसी

अन्य पुरुष या स्त्री के भावों का ठीक-ठीक विश्लेषण कर भी नहीं सकता। बात यह है कि सब के मन एक से नहीं होते। सब की ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एक सी नहीं होती। किसी अवस्था-विशेष में पड़ने पर राम जिस प्रकार का व्यवहार करता है श्याम उस प्रकार का नहीं करता यह बात हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। इस दशा में पद पद पर मनोविज्ञान की दुहाई देना और राम या श्याम के कार्यों का वैज्ञानिक कारण ढूँढना भ्रम के गर्त में गिरने और घटना-वैचित्र्य में नीरसता लाने का द्वार खोल देना है। हर मनुष्य के संस्कार जुदा-जुदा होते हैं। उनके अनुसार ही उसके कार्य-कारण हुआ करते है। वे किसी नियमावली के पाबंद नहीं। आप के पास यदि कोई धूर्त आवे और चेष्टा तथा वाणी से अपनी निर्धनता का झूठा भाव प्रकट करके आपसे ५) दान ले जाय तो, बताइये, आप धोखा खा जायँगे या नहीं। सो, संसार में मनोभाव के यथार्थ ज्ञापक कार्य्य सदा होते भी तो नहीं।

इसके सिवा एक बात और भी है। ये जितने अच्छे-अच्छे उपन्यास आजकल विद्यमान हैं उनके कुंद, इंदु और मल्लिका, मदयंतिका आदि पात्रों के हृदयों में उपन्यास-लेखकों को आप बैठा समझिए। इन पात्रों के भाव-विश्लेषण के जो चित्र आप देखते हैं, वे उनके निज के मन के प्रतिबिंब कदापि नहीं। वे तो उपन्यास-लेखकों ही के मनके प्रतिबिंब हैं। मनोभावों और संस्कारों के अनेकत्वमें लेखक उनका यथार्थ और संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। वह करता क्या हैं कि अपने ही मन की माप से औरों के मन की

मापतोल करता है। वह देखता है कि अमुक अवस्था या अमुक अवसर यदि आ जाय तो मैं इस प्रकार का व्यवहार करूँगा। बस, वह समझता है कि सारी दुनियाँ उसी में अंतर्भुक्त है, अवस्था-विशेष में जो वह करेगा वही सब लोग करेंगे या कहेंगे। पर इस प्रकार की धारणा कोरी भ्रांति है।

अच्छा तो मनोविज्ञान के शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रान्त नहीं हो सकता वैसे ही अपने मन को माप-दण्ड समझ कर उसी से औरों के मन की माप करना भी भ्रांति-रहित नहीं हो सकता। इस ' उभयतो पाशा-रज्जुः" की दशा में क्या करना चाहिए। क्या उपन्यास लिखना बन्द ही कर देना चाहिए? नही, बंद कदापि न कर देना चाहिए। उपन्यास तो साहित्य की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखा है।

घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार ज़रूर लेना चाहिये। पर उतना ही जितने से मानवी मन की स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिराने से बचाव हो सके। मनोभावों के कुछ स्थूल नियम हैं—भय उपस्थित देख भीत होना, इष्ट-नाश से दुःखित होना, आदि। इन नियमों का अतिक्रमण न करना चाहिए। कोई ऐसी बात न कहना और किसी ऐसी घटना का निर्म्माण न करना चाहिए जिससे मनुष्य मनुष्य ही न रहे, वह पशु, देव या दानव आदि हो जाय। बस। फिर दूसरे के मानोगत भावों की विवृति करते समय अपने ही मन को उसके मन के स्थान पर न बिठा देना चाहिए। अमुक अवसर आने

पर मैं यह कहता मैं यह करता, मैं मार बैठता, मैं उत्तेजित हो जाना—इस प्रकार की भावनाओं की प्रेरणा से बहुत करके सत्य का अपलाप हो जाता है। अतएव जिसके मन के मानसिक भावों का विकास करना है, उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आस पास की व्यवस्था की सारांश यह कि उसकी संपूर्ण परिस्थितियों की—आलोचना करनी चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय और ऐसी परिस्थिति में ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार के होंगे। तब तदनुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। बात यह है कि दुनिया में दूसरे के मन के भाव जानने का और कोई उपाय ही नहीं। परिस्थित और बहिर्दशन ही के द्वारा, अनुमान की सहायता से, दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है। मन का भाव-प्रवाह बाहरी लक्षणों या चिह्नों से जाना जा सकता है, यह बात मानसशास्त्री भी स्वीकार करते हैं। हर्ष, शोक, विराग, अनुराग, क्रोध, भय, आदि भावों या विचारों का मानसिक उदय होने पर शरीर और मुख पर कुछ ऐसे चिह्नों प्रकट हो जाते हैं जिनसे उन २ विकारों का पता लग जाता है। अतएव दूसरे के मनोगत भावों का चित्रण करने में परिस्थिति के साथ २ इन चिह्नों के उदयास्त का भी खूब विचार करके लेखनी-संचालन करना चाहिये। शरीर, भाषा, चित्र, कला, कारीगरी आदि पर भावों की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। इन भावों का विकास कल्पना द्वारा करना चाहिए। परन्तु कल्पना को असंयत न होने देना चाहिए। उस की गति अबाध हो जाने से वह कुपथ में चली

जा सकती है। कभी-कभी शरीर पर आंतरिक भावों के कृत्रिम चिह्न भी उदित हो जाते हैं। उस समय देखने वाले की इन्द्रियों को धोखा होता है। अतएव कृत्रिम लक्षणों और इन्द्रिय प्रवंचना से भी बचना चाहिये। सामाजिक नियमों का, कानून का, धर्म का देश-काल और पात्र का भी ख्याल रखना चाहिये। उन के प्रतिकूल लिख मारना उपन्यास लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता का बोधक होता है। ऊपर, एक लेखक के दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ है। उन में से एक की आलोचना में किसी समालोचक ने कोई कानूनी भूल बताई। लेखक ने या उनके किसी पक्षसमर्थक ने युक्ति-प्रपंच द्वारा उसके खंडन की चेष्टा कर डाली। पर इस तरह की चेष्टाओं से उपन्यास-लेखक की भूल पर धूल नहीं डाली जा सकती। जब तक पुस्तक विद्यमान है, तब तक वह भी ज्यों की त्यों विद्यमान रहेगी। जिस जुर्म के लिये आजकल के कानून में जो सज़ा निर्दिष्ट हैं उसके सिवा और कोई सज़ा—चाहे वह उस से थोड़ी हो या बहुत —दिलाने वाला उपन्यासकार स्वयं ही प्रतिकूल अलोचनारूप सज़ा का पात्र समझा जायगा।

सो इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सब का काम नहीं। उपन्यासकार की कल्पना के बल पर नई, पर सर्वथा स्वाभाविक, सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन काम को आजकल कोड़ियों ज़ैद और कोड़ियों बकर धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव

वना दिया जाता है और कहीं कीट पतङ्ग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विवृति में संयमशीलता और स्वभाविकता का कहीं पता, और न उनकी कहानी में चावल भर भी सदुपदेश देने का सामर्थ्य। अनेक उपन्यासों का उद्देश अच्छा होने पर भी बीच-बीच, घटना विस्तार और चरित्र-चित्रण से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं जिन के कारण विवेकशील पाठक के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुए विना नहीं रहती।

उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में, हिन्दी में तो, अभी कूड़े कचरे ही का ज़माना है। और, आरम्भ में प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में यह बात होती है। अङ्गरेज़ी भाषा में तो अभी तक चरित्र नाशक उपन्यासों की रचना होती जाती है। पर उपन्यास कोई ऐसी-वैसी चीज़ नहीं। वह समय गया, जब उपन्यास दो घण्टे दिल बहलाव-मात्र का साधन समझा जाता था। निकम्मे वैठे हुए हैं लाओ कुछ पढ़ें। वक्त नहीं कटता, लाओ "चपला" या चञ्चला ही को देख जायें। उपन्यास जातीय जीवन का मुकुट होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति सामाजिक समस्यायें, शिक्षा कृषि, वाणिज्य, धर्म-कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाए जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं। स्त्रियों और

बच्चों के भी वे शिक्षक बन सकते हैं मिहनत-मज़दूरी करने वालों को भी वे घंटे भर सदुपदेश दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याणकारक है।

कुछ लोगों का खयाल है कि सच्चा सामाजिक चित्र दिखाने में उपन्यासकार को संकोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की ज़रूरत हो। फिर उसमें चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों, दुराचारियों आदि के चित्र दिखाने की क्या ज़रूरत ? प्रसंग आही जाय तो इस तरह के चित्रों को निवृत्ति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए, स जिसे उनका असर पढ़ने वलों पर बुरा न पड़े। दोष समझ कर उनकी निवृति करनी चाहिए। जो उपन्यास-लेखक अश्लील दृश्य दिखा कर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करता है, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है। यदि वह इस तरह के उपन्यास केवल इस इरादे से लिखता और प्रकाशित करता है कि इनकी अधिक बिक्री से वह मालदार हो जाय तो वह गवर्नमेंट के न सही, समाज के द्वारा तो अवश्य ही बहुत बड़े दंड का पात्र है।

उपन्यास-रचना अब तो पश्चिमी देशों में कला की सीमा को पहुँच गई है। जो उपन्यासकार ऐसे उपन्यास की सृष्टि करता

है जिसके पात्रों के चिरकाल तक सदुपदेश और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। वह चाहे तो राजा से लेकर रंक तक को मज़दूर से लेकर करोड़-पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो बड़े-बड़े दुराचारों और कुसंस्कारों की जड़ें हिला दे। वह चाहे तो देश में अद्भुत जाग्रति उत्पन्न करके दुःशासन की भुजाओं को बेकार कर दे। जिस उपन्यासकार की रचना से समाज के किसी अल्प ही समुदाय को कुछ लाभ पहुँच सकता है, सो भी कुछ ही समय तक, वह मध्यम श्रेणी का लेखक है। निकृष्ट वह है जो अपनी कुरुचिवर्धक कृतियों से सामाजिक बंधनों को शिथिल और दुर्वासनाओं को और भी उच्छृङ्खलकर देता है। दुकानदारी ही की कुत्सित कामना से जो लोग, पाठकों को पशुवत् समझ कर, घास-पात सदृश अपनी बे सिर पैर की कहानियाँ उनके सामने फेंकते हैं—

ते के न जानीमहे !

——:o:——

# समाज और साहित्य

( श्री श्याम सुन्दर दास )

विकासवाद समाज और

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छानबीन करते जाइए, उतनी ही नई नई शृङ्खलायें विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उस से उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध। तनिक सोचिए तो सही, एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से सम्पन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उस की स्वयं उत्पत्ति हुई थी।

\+ \+ \+ \+

सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अन्त

में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं, पर यहीं उनकी समाप्ति नहीं है, यहीं उन का अन्त नहीं है। वे सृष्टि के कार्य्य-साधन में निरन्तर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि निर्माण में योग देते हैं। यों ही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हम को इस बात की छान-बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्माति-सूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उन की सङ्कुलता बढ़ती गई। जैसे संसार को भूतात्माक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्णरूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जङ्गली अवस्था में थे। वे झुण्डों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य उदर को पूर्त्ति था, जिस का साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उन को बाँध रखना पड़ा। इस का लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानों उन के पशु-पालन-विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिए लिए घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे

और वे एक नियत स्थान पर रह कर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब कृषि की ओर ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं और भूभागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएँ बन गई। आपस में लेन-देन होने लगा। एक वस्तु दे कर दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यहीं मानों व्यापार की नींव पड़ी। धीरे धीरे इन गांवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी सम्पत्ति को वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता का हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है, अर्थात ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास विस्तार और उसकी सङ्कुलता बढ़ती गई त्यों त्यों सभ्यतादेवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। जहाँ पहले असभ्यता वा जङ्गलीपन में ही मनुष्य सन्तुष्ट रहते थे वहाँ उन्हें सभ्यतापूर्वक रहना पसन्द आने लगा। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम

है, जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श सभ्यता यह है जिस में मनुष्य का स्थिर सिद्धांत हो जाय कि "जितना किसी काम के करने का अधिकार मुझे है उतना ही दूसरे को भी है" और उसे इस सिद्धांत पर दृढ़ रखने के लिये किसी बाहरी अङ्कुश की आवश्यकता न रह जाय। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है, इस अवस्था की प्राप्ति, बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती। अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। दोनों साथ साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसी के संचित भण्डार का

सामाजिक स्थिति और साहित्य

नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रति-बिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी, वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्ध के वर्णन अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृङ्खला बँध जाती है, जिससे साहित्य के विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमान रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिये साहित्य रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिये अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार मस्तिष्क के

विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है। और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया, तब फिर उसकी चिन्ता ही कहाँ रह जाती है। भारत भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ा-क्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी ऊर्वरा है कि सब कुछ खाद्य-पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से मन हटकर जीव, जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है, अथवा विलास-प्रियता में फँस कर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगाररस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने अब तक निवेदन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-सम्बन्धी शक्ति पोप के हाथों में आ गई थी।

**साहित्य और समाज**

माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया और युरोपीय मस्तिष्क स्वतन्त्रता देवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि युरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिन्ता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब जब उस में अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिन्दू धर्म जब परस्पर पड़ौसी हुए, तब दोनों में से कूप-मण्डूकता का भाव निकालने के लिये कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामा-

जिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने युरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हित-विधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारी पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

साहित्य की उपयोगिता

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभाग का पारावार नहीं हैं। इन्हीं कारणों से इस में संघशक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुखलोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवसर के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न हो कर समाज के

मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रति-क्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश के आधुनिक काल का गौरव करेगा।

### साहित्यकी कसौटी

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य का सिद्धि हो सके ? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवन शक्ति का संचार करनेवाला, चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालने वाला, तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित,सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इस को सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा, जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

\+ \+ \+ \+

### साहित्य का आदर्श

मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिंदी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के इन दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है, पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई

देती। गद्यका रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है, उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-सम्बन्धी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बांटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इस में तो कोई मत-भेद नहीं कि जो बोली हिन्दी गद्य के लिये ग्रहण की गई है, वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है। अतः शब्द के रूप, लिंग आदि का बहुत कुछ निश्चय तो वहाँ के शिष्ट प्रयोग द्वारा ही हो सकता है। जैसे पूरब में दही और हाथी को स्त्री लिंग बोलते हैं पर पश्चिम में, विशेष कर उक्त प्रांतों में, ये दोनों शब्द पुल्लिंग स्वीकार करते हैं, ये इसलिये नहीं कि वे संस्कृत के अनुसार पुल्लिंग वा क्लीव होंगे, बल्कि इस लिये कि वे पुल्लिंग रूप में व्यवहृत हैं। एक पण्डितजी ने अपनी एक पुस्तक में पूरबी और पश्चिमी हिन्दी का विलक्षण संयोग किया है। उनका एक शब्द है—सूतते हैं। सूतब क्रिया पूरब की है। उसमें उक्त पण्डित जी ने प्रत्यय लगा कर उसे "सूतते हैं" बनाया है। उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि

जिस स्थान में आते हैं, जाते हैं आदि बोले जाते हैं, वहाँ "सोते हैं" बोला जाता है "सूतते हैं" नहीं। उन्होंने 'ने' विभक्ति पर भी अपनी बड़ी अरुचि दिखाई है, यह नहीं समझा कि वह किस प्रकार क्रिया के कृदन्त-मूलक रूप के कारण संस्कृत की तृतीया से खड़ी बोली में आई है। कुछ लोग विशेषत: बिहार के लोग क्रियाओं के रूपों से लिङ्ग भेद उठाने की चर्चा भी कभी कभी कर बैठते हैं। पर वे यदि थोड़ी देर के लिये हिन्दी भाषा की विकास-प्रणाली पर ध्यान देंगे तो उन्हें विदित होगा कि हिन्दी क्रियाओं के रूप संस्कृत के संज्ञा शब्द कृदन्त रूपों के साँचे पर ढले हैं। जैसे 'करता है' रूप संज्ञा शब्द 'कर्त्ता' से बना है। इसी से स्त्री-लिङ्ग में वह संस्कृत 'कर्त्री' के अनुसार 'करती है' हो जाता है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है। अत: वह उन प्रांतों के शब्दों का भी अभाव पूर्त्ति के निमित अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्म स्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिये कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वे केवल अन्य स्थानों के शब्द मात्र अपने में मिला सकती है प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करे और साहित्य

का उद्देश्य यह है कि एक भाव दूसरा ग्रहण के अपने अन्तः-करण में भावों की अनेक-रूपता का विकास करे । ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भो । अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता हो वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उस में सारे संस्कृत कोशों को ढूंढ ढूंढ कर शब्द रक्खे गये हों और चार चार अंगुल के समास बिछाये गये हों । पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अन्तःकरण में जल्दी न धँसेंगे वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उन में बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों । ऐसे ही लेखों से उच्च साहित्य की सृष्टि होगी, जो जनता के बीच नये नये भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो उन के जीवन-क्रम को उलटने पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है । अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दण्डी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कार-लाइल और रस्किन होने की ।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है । खड़ी बोली की कविता का आरम्भ थोड़े ही दिनों से हुआ है । अतः अभी उस में उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ के अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी । खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएँ और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रख कर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है । कविता

की शब्दावली कुछ विशेष ढङ्ग की होती है, उस के वाक्यों का रूप रङ्ग कुछ निराला होता है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली व्रजभाषा में चली आ रही है उस का बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में भी रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के सम्बन्ध में जो बातें गद्य के प्रसङ्ग में कही जा चुकी हैं, वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं बिना भाव की कविता ही क्या? खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्य क्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक होरही है वह ठीक नहीं। मैंने कई नवयुवकों को कविता के मैदान में एक विचित्र ढंग से उतरते देखा है। छात्रावस्था में उन्होंने किसी अंगरेज़ी रीडर का कोई पद्य उठाया है और कुछ तुकबन्दी के साथ उस का अनुवाद करके वे उसे किसी कवि या लेखक के पास संशोधन के लिये ले गए हैं। कविता के अभ्यास का यह ढंग नहीं है। कविता का अभ्यास आरम्भ करने के पहिले अपनी भाषा के बहुत से नये पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रंथों का देखना, रस, अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है। आजकल बहुत सी कविताएँ ऐसी देखने में आती हैं, जिन्हें आप न खड़ी बोली की कह सकते हैं न व्रज भाषा की। उन के लेखक खड़ी बोली और व्रज भाषा का भेद नहीं समझते। वे एक ही चरण में एक स्थान पर खड़ी बोली की क्रिया रखते हैं, दूसरे स्थान पर व्रज भाषा की। आशा है कि सब दोष शीघ्र दूर हो जायँगे और

हमारे काव्य का प्रवाह एक सुव्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करेगा।

\+ + + +

साहित्य का कार्य एक या दो चार व्यक्तियों के करने से पूरा न होगा। उस के लिये हमें अपनी सारी बिखरी हुई शक्तियों को संयुक्त कर के उन्हें ऐसी बलवती बनाना पड़ेगा जिस में फिर उन के मार्ग में कोई वस्तु किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करने में समर्थ न हो। बिखरी हुई शक्ति से कोई बड़ा कार्य सुसंपन्न नहीं हो सकता और संघ-शक्ति का बल ऐसा प्रबल हो जाता है कि उस का सामना करने का साहस किसी को नहीं होता, उस के आगे सारी विघ्न-बाधाएँ आप से लुप्त हो जाती हैं।

\+ + + +

जिस प्रकार छोटी छोटी नदियाँ, नाले और अन्य जल-प्रवाह सिमट सिमट कर एक बड़ी नदी में जा मिलते और उस के वेग को ऐसा प्रबल कर देते हैं कि उस के आगे सभी रुकावटें तृण-वत् छिन्न भिन्न हो उस को सहगामिनी होती हैं, उसी प्रकार आप अपनी भिन्न भिन्न शक्तियों को साहित्य रूपी सरिता के सबल और सञ्जीवनी शक्ति-संपन्न प्रवाह में सम्मिलित कर उस प्रवाह को घोर निनाद करते हुए राष्ट्रीय समुद्र में ला मिलाइए। फिर देखिये कि किस प्रकार आप की प्यारी मातृभूमि संसार के समस्त राष्ट्रों में आदरणीय सिंहासन पर विराजने की अधिकारिणी हो जाती है।

# ऐतिहासिक उपन्यास

( श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर )

——:०:——

मानव-समाज का वह बाल्यकाल कहाँ गया, जब प्रकृत और अप्रकृत, घटना और कल्पना कई भाई-बहनों के समान एक परिवार में एक साथ खेलती बड़ी हुई थीं। अब उनके अन्दर इतना बड़ा गृह-विच्छेद हो जाएगा, यह स्वप्न में भी कोई नहीं जानता था।

किसी समय रामायण और महाभारत इतिहास थे, किन्तु आधुनिक इतिहास उसकी कुटुम्बिता को स्वीकार करने में अत्यन्त सङ्कोच करता है। वह कहता है कि काव्य के साथ परिणीत हो जाने से उसका (इतिहास का) कुल नष्ट हो गया है। अब उसके कुल का उद्धार करना इतना कठिन हो गया है कि इतिहास काव्य के रूप में ही उसका परिचय करना चाहता है। काव्य कहता है—भाई इतिहास, तुम्हारे अन्दर भी बहुत कुछ मिथ्या है और मेरे अन्दर भी बहुत सी सचाइयाँ हैं, अत एव हम दोनों पहले के समान मेल-मिलाप कर लें। इतिहास कहता है कि ना भाई, अपने

हिस्से का बँटवारा कर लेना ही अच्छा है। ज्ञान नामक अमीन ने* सर्वत्र इस बँटवारे के कार्य को प्रारम्भ कर दिया है। सत्य के राज्य और कल्पना के राज्य में एक स्पष्ट भेद की रेखा को खींचने के लिए उसने कमर बाँध ली है।

इतिहास की सीमा का व्यतिक्रम करने के अपराध में ऐतिहासिक उपन्यासों के विरुद्ध जो नालिश की गई है उसके द्वारा साहित्य-परिवार का यह गृह-विच्छेद प्रामाणित होता है।

इस प्रकार की नालिश केवल हमारे ही देश में नहीं की गई है, केवल नवीन बाबू और बङ्किम बाबू ही अपराधी नहीं ठहराए गए हैं, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों के आदि और आदर्श स्काट भी इससे छुटकारा नहीं पा सके हैं।

आधुनिक अंग्रेज़ ऐतिहासिकों में फ्रीमैन साहब का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उपन्यासों के अन्दर इतिहास की जो विकृति हो जाती है, उस पर उन्होंने अपना क्रोध प्रकट किया है। वे कहते हैं कि जो लोग यूरोप के धर्मयुद्ध-यात्रा-युग (The age of the crusades) के विषय में कुछ भी जानना चाहते हैं, उन्हें स्काट के 'आइवनहो' को नहीं पढ़ना चाहिए।

निस्सन्देह, युरोप के धर्मयुद्ध-यात्रा-युग के सम्बन्ध में हमें वास्तविक सचाई का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, किन्तु स्काट के 'आइवनहो' के अन्दर चिरन्तन मानव-समाज का जो नित्य सत्य है, उसका जानना भी हमारे लिये आवश्यक है। इतना ही नहीं

* ज़मीन के सीमासम्बन्धी झगड़े और दीवानी मुकद्दमे निबटाने वाले सरकारी कर्मचारी कहलाते हैं।

किन्तु उसके जानने की आकांक्षा इतनी प्रबल होती है कि यह जानते हुए भी कि क्रूसेड-युग के सम्बन्ध में इसमें बहुत सी भूलें हैं, छात्रगण अध्यापक फ़्रीमैन से छुपा कर आइवनहो के पढ़ने के प्रलोभन को नहीं रोक सकते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इतिहास के विशेष सत्य और साहित्य के नित्य सत्य दोनों की रक्षा कर के क्या स्कॉट महाशय 'आइवनहो' को नहीं लिख सकते थे ?

वे लिख सकते थे या नहीं, इस बात को निश्चयपूर्वक कहना तो कठिन है, किन्तु हम देखते हैं कि उन्होंने यह कार्य किया नहीं है।

यह हो सकता है कि उन्होंने जान-बूझ कर यह कार्य न किया हो, सो बात न हो। अध्यापक फ़्रीमैन क्रूसेड-युग के सम्बन्ध में जितना जानते थे, उतना स्कॉट नहीं जानते थे। स्कॉट के समय प्रमाणों का विश्लेषण और ऐतिहासिक सचाइयों का अनुशीलन इतनी दूर तक अग्रसर नहीं हुआ था।

प्रतिवादी कहेंगे कि जब वे लिखने को बैठे थे, तो अच्छी तरह जान कर ही लिखना उचित था।

किन्तु इस जानने का अन्त कब होगा ? हम निश्चयपूर्वक कब जान सकेंगे कि क्रूसेड के विषय में समस्त प्रमाण समाप्त हो गए हैं ? हम यह किस प्रकार जान सकेंगे कि आज जिसको हम ऐतिहासिक ध्रुव सत्य कह रहे हैं, कल नूतनाविष्कृत युक्तियों के ज़ोर से उसे ऐतिहासिक सिंहासन पर से विच्युत नहीं होना पड़ेगा ? आज के प्रचलित इतिहास का सहारा लेकर जो ऐतिहासिक उप-

न्यास लिखेंगे, कल के नूतन इतिहासवेत्ता यदि उनकी निन्दा करेंगे, तो हम इसका क्या उत्तर देंगे ?

प्रतिवादी कहेंगे कि इसी लिये हम कहते हैं कि जितनी इच्छा हो उपन्यास लिखो किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास मत लिखो। यद्यपि इस तरह की बात आज हमारे देश में नहीं उठी है, किन्तु अंग्रेज़ी साहित्य में सम्प्रति इसका आभास मिल रहा है। सर फ्राँसिस पलग्रेव कहते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहास का शत्रु है और दूसरी ओर कहानी का भी बड़ा दुश्मन है। अर्थात् उपन्यास-लेखक कहानी का नाश कर देता है, इस प्रकार बेचारी कहानी के श्वशुर-कुल और पितृ-कुल दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार की विपत्ति के होते हुए भी ऐतिहासिक काव्य और उपन्यास साहित्य में क्यों स्थान प्राप्त करते हैं ? इसका जो कारण है, इस लेख में हम उसी को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

हमारे अलङ्कार ग्रन्थों में काव्य का लक्षण 'रसात्मक वाक्य' निर्देश किया गया है। इसकी अपेक्षा संक्षिप्त और व्यापक लक्षण हमने और किसी जगह पर नहीं देखा है। निस्सन्देह रस किस को कहते हैं, इसको समझाने का कोई उपाय नहीं है। जिस व्यक्ति में आस्वादन शक्ति है उसके लिए रस शब्द की व्याख्या अनावश्यक है और जिसके अन्दर वह शक्ति नहीं, उसको इन बातों के जानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

हमारे अलङ्कार-शास्त्र में नौ मूल रसों का उल्लेख किया गया

है, किन्तु बहुत से अनिर्वचनीय मिश्र रस भी हैं, जिन के उल्लेख करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

इन्हीं समस्त अनिर्दिष्ट रसों के अन्दर एक का नाम 'ऐतिहासिक रस' रक्खा जा सकता है और यह रस महावाक्यों का प्राणस्वरूप होता है।

व्यक्तिविशेष का सुख-दुःख उसके निज के लिए कम नहीं है, संसार की बड़ी बड़ी घटनाएँ उसके सामने छाया सी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार यदि व्यक्तिविशेष अथवा कुछ व्यक्तियों के जीवन के उत्थान-पतन या घात-प्रतिघात को उपन्यास में ठीक उसी प्रकार वर्णन किया जाय, तो रस की तीव्रता बढ़ जाती है और यह रसावेश लोगों के अत्यन्त निकट आकर आक्रमण करता है। हम लोगों में से अधिकांश के सुख-दुःखों की परिधि सीमाबद्ध है, हमारे जीवन की तरङ्गों का क्षोभ कुछ आत्मीय बन्धु-बान्धवों के अन्दर ही समाप्त हो जाता है। विषवृक्ष में नगेन्द्र सूर्यमुखी और कुन्द-नन्दिनी की विपत्ति, सम्पत्ति, हर्ष और विषाद को हम अपना ही समझ सकते हैं, क्योंकि उन समस्त सुख-दुःखों का केन्द्रस्थल नगेन्द्र की परिवार-मण्डली ही है। नगेन्द्र को अपना पड़ोसी समझने में हमें कोई रुकावट नहीं होती।

किन्तु पृथ्वी में इस प्रकार के बहुत ही थोड़े लोगों का अभ्युदय होता है जिनके सुख-दुःख संसार की बृहत् घटनाओं के साथ बँधे हुए होते हैं। राज्यों का उत्थान-पतन, महाकाल की भविष्य की कार्यपरम्परा जो कि समुद्र के गर्जनके सहित उठती और गिरा करती

है, इसी महान् कल-सङ्गीत के स्वर में उनका वैयक्तिक विराग अनुराग बजा करता है। उनकी कहानी जब गीत बन जाती है, तब रुद्रवीणाके एक तारमें मूल रागिणी बजती है और बजाने वाले की शेष चार अंगुलियाँ पिछले मोटे पतले सब तारों में निरन्तर एक विचित्र, गम्भीर और बहुत दूर तक फैलनेवाली झङ्कार को जाग्रत् कर देती हैं।

मनुष्य के साथ काल की यह गति हमें प्रतिदिन दिखाई नहीं देती। यदि इस प्रकार का जातिके इतिहास को बनानेवाला कोई महापुरुष हमारे सम्मुख विद्यमान हो, तो भी छोटे से वर्तमान काल के अन्दर वह और वह बृहत इतिहास एक साथ हमारे दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसलिए सुयोग के होते हुए भी इस प्रकार के व्यक्तियों को हम कभी ठीक तरह से उनकी यथार्थ प्रतिष्ठाभूमि पर उपयुक्त भावसे नहीं देख सकते। उनको यदि हम एकमात्र व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं, परन्तु महाकाल के एक अङ्ग के रूप में देखना चाहें तो उनसे दूर खड़ा होना पड़ता है—अतीत के अन्दर उनको स्थापना करनी पड़ती है वे जिस महान् रङ्गभूमि के नायक थे उस को और उनको मिलाकर देखना पड़ता है।

हमारा अपने प्रतिदिन के साधारण सुख दुःख से दूर हो जाना, अर्थात् हम जब नौकरी करके, रो-गा कर खा-पी कर समय बिता रहे हैं, उस समय संसारके राज-पथपर से जो बड़े बड़े सारथी काल-रथ को चलाते हुए जा रहे हैं, उनको क्षणकाल के लिए उपलब्धि करके क्षुद्र परिधि से मुक्ति प्राप्त कर लेना, यही इतिहास का

वास्तविक रसास्वाद है।

यह बात नहीं है कि इस तरह की घटनाएँ आद्यन्त कल्पना के द्वारा नहीं बनाई जा सकतीं, किन्तु जो स्वभावतः ही हमसे दूरस्थ है, जो हमारी अभिज्ञता से बाहर है, उसे किसी बहाने से यदि हम प्रकृत घटनाके साथ मिला दें, तो लेखकों के लिए पाठकों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करना सुगम हो जाता है। रसकी सृष्टि ही उद्देश्य है, अतएव उसको उत्पन्न करनेके लिये ऐतिहासिक उपकरणों की जिस मात्रा में आवश्यकता होती है, कवि लोग उतनी ले लेने में किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं करते।

शेक्सपिअर के 'एण्टनी और क्लियोपेट्रा' नाटक का जो मूल व्यापार है, वह संसारके लिए एक प्रतिदिन का परीक्षित और परिचित सत्य है। बहुतसे अप्रसिद्ध, अज्ञात और सुयोग्य पुरुषों ने मुग्धकारिणी नारी-माया के जाल में अपने इहलोक और परलोक को बिगाड़ लिया है। इस प्रकार के क्षुद्र महत्व और मनुष्यत्वके शोचनीय भग्नावशेषों से संसार का रास्ता भरा हुआ है।

हमारे लिए सुप्रत्यक्ष नर और नारी की विष तथा अमृतमयी प्रणय-लीला को कवि ने एक विशाल ऐतिहासिक रङ्गभूमि के अन्दर स्थापित करके उसे विराट बना दिया है। हृदय के विप्लव के पश्चात् राष्ट्र-विप्लव उमड़ता है। प्रेम-द्वन्द्व के साथ, एक बन्धन के द्वारा बद्ध रोम और क्लियोपेट्रा के विलास-भवन में वीणा बज रही है और दूसरी ओर दूर समुद्र के किनारे से भैरव की संहार की भेरी उस

स्वर के साथ स्वर मिलाकर और भी ज़ोर से बज उठती है। कवि ने आदि और करुण रस के साथ ऐतिहासिक रस को मिला दिया है, इस लिये उस में एक चित्त को विस्मय में डालने वाली दूरता और बृहत्ता मिल गई है ।

इतिहासवेत्ता मम्सेन यदि शेक्सपिअर के इस नाटक पर प्रमाणों का तीक्ष्ण प्रकाश डालें, तो संभवतः इस में बहुत से काल विरोध दोष (Anachronism) और ऐतिहासिक गलतियाँ दिख सकती है, किंतु शेक्सपिअर ने पाठकों के मन पर जो जादू कर दिया है भ्रान्त और विकृत इतिहास द्वारा भी जिस ऐतिहासिक रस की अवतारणा की है, वह इतिहास के नए नए सत्यों के आविष्कृत होने पर भी नष्ट नहीं होगी।

इसी लिए इस से पहले हमने किसी समालोचना में लिखा था—'उपन्यास के अन्दर इतिहास के मिल जाने से जो एक विशेष रस सञ्चारित हो जाता है, उपन्यासकार एकमात्र उसी ऐतिहासक रस के लालची होते हैं। उसके सत्यको उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति उपन्यास में इतिहास की उस विशेष गन्ध और स्वाद से ही एकमात्र सन्तुष्ट न हो और उस में से अखण्ड इतिहास को निकालने लगे, तो वह शाक के बीच में साबित जीरे, धनिये हल्दी और सरसों ढूँढ़ेगा। मसाले को साबित रख कर जो व्यक्ति शाक को स्वादिष्ट बना सकते हैं वे बनाएँ और जो उसे पीसकर एकसम कर देते हैं, उनके साथ भी हमारा कुछ झगड़ा नहीं। क्योंकि यहाँ स्वाद ही लक्ष्य है, मसाला

तो उपलक्ष्य मात्र है ।''

अर्थात् लेखक चाहे इतिहास को अखण्ड रख कर रचना करें या तोड़ फोड़कर, यदि वे ऐतिहासिक रस की अवतारणा कर सकें तो उन्हें अपने उद्देश्य में कृतकार्य समझना चाहिए ।

इस लिए यदि कोई रामचन्द्र को नीच और रावण को साधु के रूप में चित्रित करे, तो क्या कोई दोष न होगा ? दोष होगा, किन्तु वह दोष इतिहास के पक्ष में नहीं होगा काव्य के पक्ष में ही होगा । सर्वजनविदित सत्य को एकदम उलटा कर देने से रस-भंग हो जाता है मानों पाठकों के सिर पर एकदम लाठी पड़ जाती है । उसकी एक ही चोट से काव्य एकदम चित्त होकर गिर जाता है ।

इतना ही क्यों यदि किसी झूठी बात को भी देर से सर्व-साधारण लोग सत्य मानते हुए चले आ रहे हों और यदि इतिहास और सचाई के लिए काव्य इसके विरोध में हस्तक्षेप करे, तो यह काव्य का दोष होगा कल्पना कीजिए कि यदि आज बिना किसी सन्देह के यह सिद्ध हो जाय कि मदिरासक्त अनाचारी यदुवंश ग्रीक-जातीय था और श्रीकृष्ण स्वाधीनतापूर्वक बनों में घूमने और बांसुरी को बजाने वाला ग्रीस का एक ग्वाला था यदि यह सिद्ध हो जाय कि उसका रंग उसके बड़े भाई बलदेव के रंग के समान गोरा था, यदि यह प्रमाणित हो जाय कि निर्वासित अर्जुन एशिया माइनर के किसी ग्रीक-राज्य से यूनानी राजकन्या सुभद्रा को हर कर लाया था और द्वारका समुद्रतटवर्ती एक ग्रीक उपद्वीप था यदि यह प्रामाणित हो जाय कि निर्वासन के समय पाण्डवों ने रण के

विज्ञान को विशेष तौर पर जानने वाले, प्रतिभाशाली ग्रीसीय वीर कृष्ण की सहायता से अपने राज्य का उद्धार किया था और उस की अपूर्व, विजातीय राजनीति, युद्ध-नैपुण्य और कर्मप्रधान धर्मतत्व से विस्मित होकर भारतवर्ष ने उसको अवतार मान लिया था तो भी वेदव्यास का महाभारत विलुप्त नहीं होगा और कोई नवीन कवि साहसपूर्वक काले को गोरा नहीं बना सकेगा।

हमने ये बातें मामूली तौर पर कही हैं। नवीन बाबू और बङ्किम बाबू अपने काव्य और उपन्यासों में प्रचलित इतिहास के विरुद्ध इतनी दूर तक गए हैं या नहीं, जिससे कि काव्य रस नष्ट हो गया है—इसका विचार उनके ग्रन्थों की विशेष आलोचना के समय ही किया जा सकता है।

ऐसे समय हमारा क्या कर्त्तव्य है ? हमें इतिहास को पढ़ना चाहिए या आइवनहो' को पढ़ना चाहिए ? इसका उत्तर अत्यन्त सुगम है। दोनों को पढ़ना चाहिए। सत्य के लिए इतिहास को पढ़ना चाहिए और आनन्द के लिए 'आइवनहो' को पढ़ना चाहिए। कहीं हम भूलों का ही ज्ञान न प्राप्त करलें, इस प्रकार को सतर्कता से जो व्यक्ति काव्य-रस से अपने आपको वञ्चित रक्खेंगे, उनका स्वभाव सूखकर काँटा हो जायगा।

काव्य में जो भूलें हमें मालूम पड़ेंगी, इतिहास में हम उन का संशोधन कर लेंगे। किन्तु जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास को पढ़ने का अवसर नहीं पाएगा, वह हताभाग्य है और जो व्यक्ति केवल इतिहास को ही पढ़ेगा और काव्य के पढ़ने के लिए अवसर नहीं पाएगा, सम्भवतः उसका भाग्य और भी मन्द है।

# तुलसीदास का महत्व

( श्री रामचन्द्र शुक्ल )

———:०:———

हम्मीर के समय से चारणों का वीरगाथा-काल समाप्त होते ही हिन्दी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हट कर भक्ति-पथ और प्रेम-पथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के लिए वह स्वतन्त्र क्षेत्र न रह गया, देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल पराक्रम की ओर हट कर भगवान् की शक्ति और दया दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य-काल था जिस में भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानंद और वल्लभाचार्यने जिस भक्तिरस का प्रभूत सञ्चय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उस का सञ्चार जनता के बीच किया। साथ ही कुतबन् जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबन्ध-रचना द्वारा प्रेम-पथ की मनोहरता दिखा कर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उस का मन बहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन लोक-धर्माश्रित स्वरूप को ले कर चला था, अर्थात् प्राचीन भागवत-सम्प्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था और दूसरा लोक धर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ, जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ जो अत्याचारियों का दमन करने वाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करने वाला है। इस से उन्हें भारतीय भक्ति-मार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परम्परा वाले भक्त वेद-शास्त्रज्ञ तत्व-दर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान का लोक-धर्म-रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है, इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठा कर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधा-स रसे सींचकर मुरझाते हुए हिन्दू-जीवन को फिर से हरा किया। पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखा कर सूरदास ने हिन्दू जाति की

नैराश्य-जनित खिन्नता हटाई जिस से जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदास जी ने भगवान् का लोक-व्यापार-व्यापी मङ्गल-मय रूप दिखा कर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिन्दू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिन्दू-जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ रस की अभिव्यंजना करने वाली वाणी का विकास भी स्वभाविक था। अतः सूर और तुलसी के समय हिन्दी-कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की कद्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की कद्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि काल के कारण हैं सूर-तुलसी, और सूर तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास, जिसके अवलंबन थे राम और कृष्ण। लोक-मानस के समक्ष राम और कृष्ण जब से फिर से स्पष्ट करके रखे गये, तभी से वह उनके एक-एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में लग गया, यहाँ तक कि सूरदास तक आते-आते भगवान की लोकरंजन-कारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई। अन्त में उनकी अखिल जीवनवृति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करने वाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।

इस दिव्य वाणी का यह मंजु-घोष घर-घर क्या, एक एक

हिन्दू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिन्दू जाति को नया जीवन दान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सब से दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गढ़े में ढकेलता। ईश्वर विना पैर के चल सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुखियों की पुकार पर दौड़ कर आते दिखाई दें और उन का हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उन की आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की तृप्ति हो सकती है और लोक-धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है, इस भावना का-अङ्गरेज़ी नाम-करण हो जाने पर भी सभ्यता के आधुनिक इतिहासों में विशेष स्थान स्थिर हो जाने पर भी - हिन्दू-हृदय से बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन-दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह "रावणत्व' की सीमा पर पहुँचेगा और "रामत्व' का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से राम-चरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पण्डित सब के हृदय और कण्ठ में सब दिन के लिए बसा

दिया। किसी श्रेणी का हिन्दू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—सम्पत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में, जहाँ देखिये वहाँ राम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिन्दू-जीवन को राम-मय कर दिया। गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन की वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती हैं, बुराई पर ग्लानि करती है. शिष्टता का अवलम्बन करती है और मानव-जीवन के महत्व का अनुभव करती है।

---

# हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि

( ले०—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी )

सभी देशों के इतिहास में भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक सङ्घर्षण के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही सङ्घर्षण से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल हो जाता है पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए, परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विविश होकर उन्हें कोई एक ऐसा सम्बन्ध खोजना पड़ता है जिससे उस भिन्नता में भी एकता स्थापित हो जाय। यही सत्य का अन्वेषण है, बहु में एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्व पूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जाति-प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरप में जिन

जातियों का सम्मिलन हुआ है उन में इतनी विषमता नहीं थी। उन में से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इस में सन्देह नहीं कि उनमें जातिगत विद्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी, तो भी कदाचित् उन में वर्णभेद नहीं था। यही कारण है कि इँग्लेंड में सैक्सन और नार्मन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यह है कि सभी पाश्चात्य जातियों में वर्ण और शारीरिक गठन की समता है। यही नहीं, किन्तु उनके आदर्शों में भी अधिक भेद नहीं है। इसीलिए उनके पारस्परिक सम्मिलन में बाधा नहीं आती। परन्तु भारतवर्ष की यह दशा नहीं है। प्राचीन काल में श्वेताङ्ग आर्यों का कृष्णकाय आदिम निवासियों से मिलाप हुआ। फिर द्रविड-जाति से उनका सङ्घर्षण हुआ। उस समय द्रविड जाति भी सभ्य थी और उनका आचार-व्यवहार आर्यों के आचार व्यवहार से सर्वथा भिन्न था। यह विषमता दूर करने के लिए तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि इन जातियों का नाश ही कर दिया जाय। दूसरा यह कि उन्हें वशीभूत कर उन पर अपनी सभ्यता का प्रभाव डाला जाय और तीसरा यह कि एक ऐसे बृहत् सत्य का आविष्कार किया जाय जहाँ किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं रह सकती। भारतीय आर्यों ने इस तीसरे उपाय का अवलम्बन किया। भारतवर्ष के इतिहास में जिन महापुरुषों का नाम अग्रगण्य है, उन्होंने यही कार्य किया है। भगवान् बुद्धने विश्व-मैत्री की शिक्षा देकर भारत के राष्ट्रीय जीवन में एकता का प्रचार किया। जब भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब देश में एक नये आंदो-

लन का जन्म हुआ। उस आन्दोलन का उद्देश था जातीय और धार्मिक विरोध को भूलकर नारायण के प्रेम में सभी नरों को भ्रातृ-रूप से ग्रहण करना। हिन्दी साहित्य पर इस आन्दोलन का जो प्रभाव पड़ा, उसी की चर्चा यहाँ की जाती है।

भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित नहीं हो गया। समस्त हिंदू-जाति ने विशेष कर राजपूतों और मरहठों ने बड़ी दृढ़ता से उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानों का पहला आक्रमन सन् ६६४ ईस्वी में हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गए। उनका दूसरा आक्रमण सन् ७११ में हुआ। तब उन्होंने सिंधु देश पर अधिकार कर लिया था। परंतु कुछ समय के बाद राजपूतों ने उनको वहाँ से हटा दिया। इस के बाद महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानों का प्रभुत्व यहाँ स्थापित नहीं हुआ। सन् ११९३ से मुसलमानों का शासन युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी दक्षिण में हिंदू साम्राज्य बना रहा। विजय नगर का पतन होने पर कुछ समय के लिए समग्र भारत पर से हिंदू साम्राज्य का लोप हो गया। परंतु सत्रहवीं सदी में मरहठे प्रबल हुए और अंत में उन्होंने फिर हिंदू साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय अंगरेज़ों का प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समय में हिंदू और मुसलमान दोनों को अंगरेजों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य सन् ११९३ से

प्रारम्भ होता है तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फ़कीर इन आक्रमणकारियों के पहले ही यहाँ आचुके थे। आठवीं सदी में जब मुसलमानों ने भारत का एक भाग विजय कर लिया तब तो हिंदुओं और मुसलमानों में घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानों का अभ्युदय बढ़ रहा था। बग़दाद विद्या का केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान् ख़लीफ़ा के दरबार तक जा पहुँचे। वहाँ उन लोगों की बदौलत संस्कृत के कितने ही ग्रंथ रत्नों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ। भारतवर्ष में मुसलमानों ने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की, किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सब से अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोई हिंदू कोई तुरुक कहावै एक जमीं पर रहिये।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये॥
वेद किताब पढ़ैं वे कुतबा वे मौलाना वे पांड़े।
बिगत बिगत कै नाम धरायो यक माटी के भांड़े॥

कबीर हिंदू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परंतु दोनों इसका विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढ़ता, इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि में पड़ कर दोनों नष्ट हो जायँगे।

साधो देखो जग बौराना।
साँच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।
आपसमें दोउ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना।
हिन्दू दया मेहरको तुरकन दोनों घट सों त्यागी।
वैं हलाल वैं झटका मारैं, आग दोऊ घर लागी।
या विधि हसत चलत हैं हमको आप कहावैं स्याना।
कहें कबीर सुनो भाई साधो इनमें कौन दिवाना॥

स्वदेशकी कल्याण-कामना से प्रेरित हो कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों चलकर अपनी आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू एक ओर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दुहु राह न पाई।
हिन्दूकी हिन्दुवाई देखी तुरकनको तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई।

इसी लिए कबीर ने हिन्दू की हिन्दुवाई और तुर्क की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया। उन्होंने केवल मनुष्यत्व को ग्रहण किया—

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं।

उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टिसे देखा—

सम दृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखों तहँ एक ही साहेब का दीदार॥

सम दृष्टी तब जानिये सीतल समता होय।
सब जीवनकी आतमा लखें एक सी सोय॥

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ । हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरो ने इस एकता की नींव को दृढ़ किया। हिन्दी में कागज़-पत्र, शादी-ब्याह, खत-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलनके सूचक हैं। इसके बाद जायसीने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य का दर्शन कराया ।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि ।
जामें मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि॥

मलिक मुहम्मद जायसी केवल कवि नहीं थे, साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषा में रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू-जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावटसे मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रहकर भी कोई दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है; यही नहीं, किन्तु वह उस में सत्य का यथार्थ और अभिन्न रूप देख सकता है, यह बात जायसी की कृति से प्रकट होती है। हिन्दू भी मुसलमानों की तरह ईश्वर की सन्तान हैं। यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर-प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं है।

तिन्ह सन्तति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन
हिन्दू तुरक दुनउ भये अपने अपने दीन ॥

जायसी ने जो शिक्षायें दी हैं उन में ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उन्होंने कहा है—

जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।
परमहंस तेहि मानस जइस फूल मँह बास ।

जो उसका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपने हृदय को सदैव स्वच्छ रखना चाहिये—

तन दरपन कहँ साज दरसन देखा जो चाहइ ।
मन सो लीजइ मांज, महमद निरमल होम किया।

उन्होंने एकत्ववाद की सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइ से राज न चलि सकइ।
बीच तें आपहु खोय महमद एकाग्र होइ रहइ।

भोग्य और भोक्तामें भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सबइ जगत दरपन कह लेखा
आपुहि दरपन आपहु देखा
आपुहि बन अउ आपु पखेरू
आपुहि सउजा आप अहेरू
आपुहि पुहुप फूल गति फूले
आपुहि भवँर बास-रस भूले,
आपुहि फल आपुहि रखवारा

साकार

आपुहि सोरस चाखन हारा
आपुहि घट घट मँह मुख चाहइ
आपुहि आपन रूप सराहइ

आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लिखनहार।
आपुहि लिखनो अखर आपुहि पँडित अपार॥

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फ़कीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फ़ारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्ययुग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देशमें शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य-की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार होगया। अकबर के राजत्व-काल में इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके शासनकाल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उस में हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामन्त्री अबुलफ़ज़ल ने एक हिन्दू-मन्दिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था, उस का भावार्थ यह है—हे ईश्वर, सभी देव-मन्दिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं। सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते

हैं। विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एकहो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान, मस्जिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिर्जाघरों में तुम्हारे लिए घण्टा बजाते हैं। एक दिन मैं मस्जिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा। पर मन्दिर मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अबुलफ़ज़ल का यह उद्‌गार मध्ययुग का नव सन्देश था हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास ने अपने युग को इसी भावना से प्रेरित हो मनुष्य जीवन में श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। इसी भाव को ग्रहण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी। निम्न-लिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू-भाव को कितना अपना लिया था।

अनुचित बचन न मानिए जदपि गुराइस गाढ़ि।<br>
है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरत को बाढ़ि॥<br>
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।<br>
पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय॥<br>
गहि सरनागति राम की भव सागर की नाव।<br>
रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव॥<br>
जो रहीम करिबो हुतो ब्रज को इहै हवाल।<br>
तौ काहे कर पर धरयो गोवर्धन गोपाल॥

मुग़लों के शासन-काल में हिन्दी-साहित्य को जो श्री वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को

स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राज-भाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिंदू-साहित्य की। उस समय वैष्णव सम्प्रदाय के अचार्यों ने धार्मिक विरोध को भी हटाने की चेष्टा की है। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गए। इन में रसखान की भक्ति ने हिन्दी में रस की धारा बहा दी है। उन का निम्नलिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है।

मानुस हों तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गोप गुवारन।
जो पशु होउँ कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को जु कियो व्रज छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग होउँ बसेरो करौं वही कालिन्दी कूल कदंब की डारन।

मुसलमानों के लिए यह प्रेम कम साहस का काम नहीं था। ताज का यह कथन सर्वथा उचित था—

सुनौ दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
इस्म ही विकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं नमाजहू भुलानी तजे
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार
तेरे नेह दाग मैं निदाव ह्वै दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी मूरत पै
तांणा नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी हैं।

इसी प्रेम से प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियों ने हिन्दी साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है।

राजनीति के क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान जाति का विरोध नहीं दूर हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्षण बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया। इसी चिरन्तन सत्य के आधार पर, इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है। इस जातीयता में सभी जातियाँ अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इस में सम्मिलित होने के लिए हिंदुओं ने अपना हिंदुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानों ने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों का परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मन्दिर में हुआ, जहाँ बाह्य आचार-व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेद के बन्धन से मनुष्य जाति की एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता काल्पनिक नहीं है। यह हिंदू और मुसलमान के जीवन में अभी तक कामकर रही है। सत्य की सीमा संकुचित कर देने से ही इन में परस्पर विरोध होता है। ईश्वर में ही सभी विरोधों का मिलन होता है। इसीलिए उसी को अपना लक्ष्य मानकर भारत ने अपनी जातीयता की सृष्टि की है। यहाँ एक ओर समाज में आचार-विचार की रचना होती आई है, और दूसरी ओर मनुष्य की एकता को लोग स्वीकार करते आये हैं। एक ओर भिन्न भिन्न वर्णों में एक ही पंक्ति में बैठकर खाने पीने तक का निषेध किया गया है और दूसरी ओर आत्मवत् सर्वभूतेषु की शिक्षा दी गई है। आधुनिक युग में जाति-भेद की जो समस्या उपस्थित होगई है उसके सम्बन्ध में

रवीन्द्र बाबू ने बिलकुल ठीक लिखा है कि आज-कल जाति-विद्वेष खूब बढ़ गया है। सभ्य जाति अपनी शक्ति के मद से उन्मत्त हो निर्बल जातियों पर अत्याचार करने में सङ्कोच नहीं करती। मनुष्यत्व का विचार उनके लिए उपहासास्पद है। परन्तु जब जातीय स्वातन्त्र्य, परजाति-विद्वेष और स्वार्थसिद्धि का वीभत्स-रूप दृष्टिगोचर होने लगेगा, तब मनुष्य यह समझेगा कि मनुष्य की यथार्थ मुक्ति किस में है। नर में नारायण को उपलब्ध करने में ही उस की मुक्ति है, इसी में उस का कल्याण है। इसके लिए अधिक तर्क करने की आवश्यकता नहीं।

बिंदु मों सिंधु समान, को अचरज कासौं कहै।
हेरनहार हिरान, रहिमन अपने आपतें॥

# हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी

( श्री पद्मसिंह शर्मा )

——:०:——

हिन्दी, उर्दू और हिंदुस्तानी का झगड़ा कोई सौ बरस से चल रहा है, आज तक इसका फ़ैसला नहीं हुआ कि इनमें से भाषा का कौन-सा रूप राष्ट्रभाषा समझा जाय और कौन-सी लिपि राष्ट्र-लिपि ठहरा ली जाय !

हिंदी वाले चाहते हैं कि ऐसी विशुद्ध भाषा का प्रचार हो, जिस में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य रहे, और यदि सरलता अपेक्षित हो तो विशुद्ध तद्भवों से ही काम लिया जाय, विदेशी भाषा के शब्दों का भरसक बहिष्कार हो, प्रत्युत जहाँ आवश्यकता विवश करे वहाँ संस्कृत से ही पारिभाषिक शब्द भी गढ़ लिए जाएँ। कुछ विशुद्धतावादियों के मत में तो 'लालटेन' का प्रयोग करना अशुद्धि के अंधकार में पड़ना है, उसके स्थान में वह 'दीपमन्दिर' या 'हस्तकाचदीपिका' का प्रकाश अधिक उपयुक्त समझेंगे।

उर्दू वाले नये-नये अन्य भाषाओं से लिए गए अरबी और फ़ारसी शब्दों तक से भागते हैं और उनके बजाय अरबी

और फ़ारसी के आप्त शब्द कोषों से नई-नई परिभाषाएँ लेकर अपनी लेखन शैली में ऐसी कृत्रिमता पैदा करते हैं कि उनका एक-एक फ़िक़रा 'ग़ालिब' के बाज़ मुश्किल पदों की पेचीदगी पर भी ग़ालिब (विजयी) आजाता है, और प्रायः शब्दों की जड़त ऐसा होती है कि वाक्य के वाक्य केवल इतनी ही बात चाहते हैं कि विशुद्ध फ़ारसी शक्ल अख़्तियार करने में सिर्फ़ हिंदी क्रियाओं को बदल दिया जाय।

विशुद्ध हिंदी और विद्वत्तापूर्ण उर्दू की एक बीच की सूरत का नाम "हिंदुस्तानी" कहा जाता है, जिस में कठिन अपरिचित अरबी फ़ारसी शब्द और दुरूह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से जहाँ तक हो सके बचने की कोशिश की जाती है और इस पर ध्यान रक्खा जाता है कि नित्य के कारबार में जो शब्द और मुहावरे बोलचाल में काम आते हैं वही पोथियों में और अख़बारों में भी बरते जाएँ।

इन तीनों रूपों में एक-एक कठिनाई है। विशुद्ध हिंदी और खालिस उर्दू पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर, बहुत ही कम काम में आती है। पंडितों के व्याख्यान और मौलवियों के खुतबे मुश्किल से सुनने वालों की समझ में आते हैं, और इनका दायरा बहुत ही सीमित हैं—क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। हिंदुस्तानी में यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रन्थ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भंडार को काफ़ी नहीं पाता और अपने 'हिंदुस्तानी' के दायरे को छोड़कर कभी उसे ख़ालिस उर्दू की तरफ़ और कभी विशुद्ध हिंदी की ओर

झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषाएँ उधार लेनी पड़ती हैं।

ख़ालिस और विशुद्ध फ़िरके और संप्रदायवाले जनता को इतना ऊँचा उठाना चाहते हैं कि उनकी मामूली बोलचाल विद्वता-पूर्ण और परिमार्जित हो जाय कि बोली जाने वाली और लिखी जानेवाली भाषा में भेद न रहे। हिंदुस्तानी के अनुयाई यह दावा करते हैं कि बोलचाल की भाषा स्वाभाविक रास्ते पर चलेगी, बनावट से वह ज़बरदस्ती ऊँचे नहीं उठाई जा सकती। विशुद्ध पक्षवाले हिंदुस्तानी की यह निर्बलता बतलाते हैं कि उसका भंडार इतना रीता है कि वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना तो क्या उसमें उच्च कोटी की कविता भी नहीं हो सकती—वह विशेष प्रकार की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के प्रकाशन का साधन नहीं बन सकती—ख़याल अपने ज़ोर में मनचाही ऊँची उड़ान नहीं ले सकते, हिन्दुस्तानी में कुछ स्वाभाविक कविता हो सकती है पर वह अनन्त की ओर दौड़ नहीं लगा सकती,—अपने संकीर्ण क्षेत्र में ही उछल कूद कर रह जाती हैं। ऐसी दशा में 'हिंदुस्तानी'' भाषा प्रमाण या आदर्श मान ली जाय तो साहित्य और ज्ञान विज्ञान का सर्व-साधारण से कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। संक्षेप में वर्तमान झगड़े का यही स्वरूप है।

हमारे देश में विदेशियों से व्यवहार, व्यापार और संघर्ष हज़ारों बरस से चला आ रहा है, और उन में भी मुसलमानों से विशेष रूप से लगभग एक हज़ार साल से, सम्बन्ध हो गया है। मेरी समझ में जो लोग केवल राजनीतिक सम्बन्ध पर ही ज़ोर

देते हैं, वे भूलते हैं। मुसलमानों से, सामाजिक और व्यापारिक सम्बन्ध, राजनीतिक की अपेक्षा अधिक रहा है। लड़ाइयाँ निरन्तर नहीं होती रहतीं और राज-काज भी हर शहर और हर बस्ती में इतना सार्वजनिक प्रभाव डालने वाला और व्यापक नहीं हुआ करता, परन्तु, बाहर से बस जाने वाले विदेशी. बस्तियों के भीतर कभी बिलकुल अलग अलग चुपचाप मौन साध कर—नहीं रह सकते। अपने पड़ोसियों से मेल-जोल, लेन-देन, वनिज-व्यापार, कारबार और व्यवहार किए बिना उन का काम नहीं चल सकता, और यह सब कुछ मूक या नीरव भाषा में होना असम्भव है। इस प्रकार के सम्बन्ध अधिक व्यापक, अधिक प्रभावशाली और निरन्तर बने रहने वाले होते हैं, उनका प्रभाव भाषा पर स्थायी और अमिट होता है। इसी लिए हमारी यह सहेतुक धारणा है कि राजनीतिक को अपेक्षा सामाजिक सम्बन्ध का भाषा के ऊपर बहुत गहरा असर पड़ता है। यह बात मैं मानता हूँ कि साधारण श्रेणी के विदेशियों से सब से अधिक संपर्क, सेनावाली बस्तियों और बाज़ारों में होता है। परन्तु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिए कि जब विदेशियों की एक बड़ी संख्या कहीं आकर बस जाती है, तो इसका काम सिर्फ सेना-विभाग में नौकरी करने से नहीं चल सकता, फिर ऐसी बस्तियों में सिपाहियों के सिवाय पेशेवर, रोज़गारी, मज़दूर, किसान और दफ्तरों में काम करने वाले लोग (अमले) भी रहते हैं, उन सब का भी भाषा पर सम्मिलित प्रभाव पड़ता है।

फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली और फिरंगी शब्द, बङ्गला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी मिले-जुले पाये जाते हैं इनकी संख्या बहुत बढ़ी हुई है वहाँ इन के प्रयोग की शैली भी पृथक् हो गई है। जैसे गुजराती में हिन्दू गुजराती के साथ साथ, पारसी-गुजराती की भी एक पृथक् शैली चलती है; जिसमें फ़ारसी शब्दों की बहुतायत है। सौभाग्य से वहाँ लिपिभेद का प्रश्न कभी पैदा ही नहीं हुआ, नहीं तो शायद हिन्दी उर्दू के-सा झगड़ा वहाँ भी खड़ा हो जाता। बङ्गला में, नित्य की बोलचाल में, 'दरकार' 'पोशाक' 'आईना' 'बालिश' इत्यादि फ़ारसी के सैकड़ों शब्द काम में आते हैं। 'आलमारी', 'बासन' (बरतन, बजरा' (डोंगी) 'बिसकुट', 'काजू' (फल), 'फ़ीता', 'गोदाम', 'गिरजा' 'इंगला (री) ज', (अङ्गरेज़), 'जुलाब', जानाला' (जंगला), 'नीलाम' 'लेबू' (नीबू), मारतौल' (हथौड़ा); 'मास्तूल' (मस्तूल), 'पादरी', 'पिस्तौल', तामाक' (तमाकू), 'बियाला' (बाजा), 'आचार' (अचार चटनी, 'चाबी' (कुंजी, 'तौलिया'; कुर्ता', आदि अनेक पुर्तगाली शब्द, जो बङ्गला प्रचलित हैं थोड़े से हेर-फेर के साथ हिन्दी, मराठी; गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं में भी व्यवहृत होते हैं। बात यह है कि विदेशियों का संपर्क, जिस प्रांत में जितनी कमी-बेशी के साथ रहा है, उसी हिसाब से उन-उन प्राँतों की बोलियों में विदेशी शब्द भी घुलमिल गए हैं। भारत की कोई प्रांतीय भाषा ऐसी नहीं है जिस में विदेशी शब्दों की एक अच्छी संख्या शामिल न हो। वह सब कुछ होते हुए भी किसी विदेशी

भाषा ने ऐसी प्रबल चढ़ाई हमारे देश पर नहीं की है कि किसी देशी बोली को एक-दम निकाल कर बाहर कर दे और खुद उस की जगह ले ले। जिस तरह विदेशी आकर बस जाता है और अपनाए हुए देश की भाषा, संस्कृति चाल-ढाल, रीति रिवाज, वेष भूषा ग्रहण कर लेता है, उसी तरह उसके साथ आए हुए बाहरी शब्द भी अङ्गीकृत देश के शब्दों का रङ्ग-रूप ग्रहण करके उसके व्याकरण की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह, चाहे वह विजयी जातियों के साथ ही क्यों न आए हों पर विजित देश की शब्द राशि में मिल कर अपनी पृथक् सत्ता को गवाँ ही बैठते हैं, या कहना चाहिये कि देशी भाषा के निरन्तर आक्रमण संघर्ष और घेरघार से विजित हो कर--हार मान कर--आत्म-समर्पण कर देते हैं और यथानियम अपनी 'शुद्धि' करा कर देशी चोला धारण कर लेते हैं।

खालिस उर्दू के सैंकड़ों शब्द ऐसे हैं जो अपने पूर्वरूप को एकदम खो बैठे हैं—अपने पहले वाच्यार्थ से अब कोई सरोकार नहीं रखते—बल्कि कइयों का तो रूप ऐसा बिगड़ गया है कि वे पहचाने तक नहीं जाते कि किस देश से आए हुए हैं, और किस जाति या वंश के भूषण हैं। कई की सूरत शक्ल तो (बदस्तूर) वही है, पर मतलब में कहीं जा पहुँचे हैं। इस के कुछ उदाहरण—

'फ़ैलसूफ़' यूनानी शब्द है, अरबी में हकीम का और अङ्गरेज़ी में फ़िलासफ़र या डाक्टर का जो अर्थ है वही यूनानी में

इसका है, पर ऊर्दू में आ कर ग़रीब "मकार" और दग़ाबाज़ बन गया ! फैलसूफ़ी=मकारी !!

"ख़सम"—अरबी में प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु को कहते हैं। ऊर्दू में इसने प्रियतम पति का स्थान ग्रहण कर लिया, शत्रु से परम मित्र हो गया ! रूप वही है पर अर्थ में कितना अन्तर !

"सैर" 'तमाशा'—अरबी में केवल रफ्तार को कहते हैं। ऊर्दू में कहते हैं, "चलो बाग़ की सैर देख आयें।" अजब तमाशा है !

"तकरार"—अरबी में दुबारा कहने या काम करने को कहते हैं ऊर्दू में "तकरार" लड़ाई-झगड़ा है।

"ख़ातिर"—अरबी फ़ारसी में दिल या ख़याल के मौक़े पर बोलते हैं। ऊर्दू में कहते हैं, इतना हमारी ख़ातिर से मान जाओ, या उनकी बड़ी ख़ातिर की।

"रोज़गार"—फ़ारसी में ज़माने को कहते हैं, हिन्दी में 'रोज़गार" नौकरी-धन्धा है।

"मुफ़लिस"—फ़ारसी में कङ्गाल को कहते हैं पर कलकत्ते में उसे कहते हैं जिसके स्त्री न हो। जब कोई किसी मकान में भाड़े के लिये कमरा या कोठरी तलाश करता है, तो घर वाला पूछता है—"आप गृहस्थ हैं या मुफ़लिस ?' इस मुफ़लिसी के मारे कितने ही बेचारों को घर भाड़े नहीं मिलता।

"पावरोटी"—डबल रोटी को कहते हैं। कारण यह है कि पुर्तगाली भाषा में 'पाओं' रोटी का नाम है। परन्तु हमारी भाषा

में 'पाओं' शब्द 'पाव के रूप में एक खास क़िस्म की रोटी का नाम पड़ गया। 'पाव' के साथ 'रोटी' का प्रयोग पुनरुक्ति है पर इसका प्रचार हो गया है। सिर्फ पाव कहने से रोटी कोई न समझेगा। इत्तफ़ाक से डबल रोटी, जिसके असली मानी मोटी और फूली हुई रोटी के हैं, शायद यह अर्थ रखता है कि 'पाव रोटी' में 'रोटी' शब्द डबल यानी दो बार आया हुआ है !!

पुर्तगाली 'फाल्टो' के मानी 'फालतू' में ज्यों के त्यों है पर उच्चारण बदल गया है।

इसी प्रकार अरबी फ़ारसी के वे शब्द जो हिन्दी या हिन्दुस्तानी में आ गए हैं, उनका वही रूप शुद्ध है जिसमें वे बोले जाते हैं। उनके असल रूप में सही उच्चारण करना सर्व साधारण के लिये सम्भव भी नहीं है; जैसे--'स्वाद' और 'से' या 'ज़े' ज़ाल' 'ज़ो' और 'ज्वाद' वाले शब्दों का सही तलफ्फ़ुज़ मामूली हिन्दुस्तानी मोलवियों के लिए भी मुश्किल है, सर्व साधारण पढ़े लिखों की तो बात ही क्या है। इस लिये यदि हिन्दुस्तानी पन का ध्यान रक्खा जाय तो उच्चारण भेद के कारण जो झगड़ा भाषा में पैदा हो गया है वह आसानी से बहुत कुछ मिट सकता है। लेकिन दिक़्क़त यह है कि सिद्धाँत रूप में इस बात को ठीक मान लेने पर भी इस पर व्यवहार नहीं हो रहा, 'पंचों का कहना सिर माथे पर' पर 'परनाला वहीं बहेगा' वाली बात हो रही है ! केवल विदेशी भाषाओं के शब्दों का उच्चारणभेद ही झगड़े का कारण नहीं है, अपनी भाषा के ठेठ हिन्दुस्तानी शब्दों के बारे

में भी यही बात है। प्रान्तीय भेद के कारण एक ही शब्द भिन्न भिन्न रूप में बोला जाता है यद्यपि लिखने में उसका एक ही रूप रहता है पर बोलने में लहजा या टोन (ध्वनि) जुदा जुदा होती है। यह बात कुछ हमारी हिन्दी ही के सम्बन्ध में नहीं है संस्कृत और अँगरेज़ी के उच्चारण में भी है। बंगालियों का संस्कृत उच्चारण बँगला ढँग का होता है, दक्षिणियों का दक्षिणी ढँग का और मदरासियों का इन दोनों से जुदा अपने ढंग का। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में संस्कृत और प्राकृत के उच्चारणभेद पर बहुत कुछ लिखा है। किस प्रांत के लोग प्राकृत का उच्चारण अच्छा करते हैं और किस जगह के संस्कृत का। इस पर खूब बहस करके संस्कृत और प्राकृत के लिए पाँचाल प्रान्त तथा संयुक्त प्रदेश (मध्य प्रदेश) वालों का उच्चारण आदर्श माना है।

एक सज्जन के दाहिने पाँव के अँगूठे में पत्थर से टकरा कर चोट लग गई थी, उस पर पनकपड़ा बाँध रक्खा था, लँगड़ा कर चलते थे। आप कुछ संस्कृत भी जानते हैं और विशुद्ध हिन्दी के परम पक्षपाती हैं। मैंने पूछा 'आप के पांव में क्या हुआ ?' बोले "दक्षिणपादके अंगुष्ठ में प्रस्तर के आघात से व्रण हो गया है उस पर आर्द्र वस्त्र वेष्टन कर रक्खा है, इससे लाभ की पूर्णतया सम्भावना है, अन्य प्रकार की अप्राकृत चिकित्सा प्रणाली का मैं विरोधी हूँ।'

हिन्दी उर्दू के झगड़े में नाम-भेद भी एक मुख्य कारण बना हुआ है। हमारी भाषा के विभिन्न नामों की उत्पत्ति और उनके

प्रचार के इतिहास पर विचार करना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

उर्दू के बहुत से हिमायती इस रोशनी के ज़माने में भी, यह कहते सुने जाते हैं कि हिन्दी एक नया और कल्पित नाम है, जो हिन्दुओं ने उर्दू का बायकाट करने की गरज़ से गढ़ लिया है। दर असल हिन्दी कोई भाषा नहीं, उर्दू ही इस देश की असली ज़बान है। इसी तरह हिन्दी वालों को उर्दू नाम से कुछ चिढ़-सी है। वे उर्दू के बारे में ठीक वैसा ही मत रखते हैं, जैसा उल्लिखित उर्दू वाले हिन्दी के विषय में। पर इस नाम-भेद के विवाद पर यदि ऐतिहासिक दृष्टि से निष्पक्ष होकर विचार किया जाय, तो ये दोनों ही पक्ष कुछ भ्रांत से जँचते हैं। जो लोग हिन्दी नाम को कल्पित या मन गढ़न्त समझ कर नाक-भौं चढ़ाते हैं, या इस नाम की प्राचीनता या सत्ता ही को स्वीकार नहीं करते, वह एक ऐतिहासिक सत्य का अपलाप करते हैं। हिन्दी' उर्दू की अपेक्षा बहुत ही पुराना और सर्वमान्य नाम है। जिस भाषा का नाम आजकल 'उर्दू' प्रचलित है, इसके लिए उर्दू के पुराने लेखकों और कवियों ने 'हिन्दी' शब्द का ही अपने ग्रन्थों में सर्वत्र व्यवहार किया है, उर्दू का नाम कहीं नहीं आया। 'उर्दू' शब्द उस समय भाषा के लिए निर्मित ही नहीं हुआ था, फिर आता कैसे ?

बहुत से लोग उर्दू' शब्द के व्यवहार को (भाषा के लिए) शाहजहाँ के समय से मानते हैं। बहुत दिनों तक उर्दू की उत्पत्ति का काल भी यही माना जाता रहा है। अर्थात् शाहजहां का शासनकाल

दिल्ली का उर्दू बाज़ार (छावनी) उर्दू भाषा की जन्म भूमि या सूतिका गृह है, ऐसा समझा जाता रहा है। पर ये दोनों ही धारणायें निराधार और किंवदन्ती ही हैं। इनकी पुष्टि में कोई दृढ़ ऐतिहासिक वा साहित्यिक प्रमाण नहीं मिलता।

---

# चरित्र-पालन

( श्री बालकृष्ण भट्ट )

चरित्र में कहीं पर किसी तरह का दाग़ न लगने पावे, इस बात की चौकसी का नाम चरित्र-पालन है। हमारे लिये चरित्र-पालन की आवश्यकता इस लिये मालूम होती है कि चरित्र को यदि हम सुधारने की फ़िकर न रक्खें, तो उसे बिगड़ते देर नहीं लगती जैसे उर्वरा फलवंत धरती में लंबी-लंबी घास और कटीले पेड़ आप-से-आप उग आते हैं और अन्न आदि के उपकारी पौधे बड़े यत्न व परिश्रम के उपरान्त उगते हैं। सच तो यों है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति ने चरित्र में विकार पैदा कर देने वाले इतने तरह के प्रलोभन संसार में उपजा दिए हैं, जिनसे आकर्षित हो मनुष्य बात की-बात में ऐसा बिगड़ जा सकता है कि फिर यावज्जीवन किसी काम का नहीं रहता। महल के बनाने में कितना यत्न और परिश्रम करना पड़ता है; पर जब वह बनकर तैयार हो जाता है तो उसे ढहाते देर नहीं लगती। इसी बात पर लक्ष्य कर कवि-शिरोमणि कालिदास ने कहा है—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।"

अर्थात्—जो बातें विकार पैदा करने वाली हैं, उनके होते हुए भी जिन के मन में विकार न पैदा हो, वे ही धीर हैं। महाकवि भारवि ने भी ऐसा ही कहा है—

विक्रिया न खलु कालदोषजा
निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ।"

अर्थात् - निर्मल प्रकृति वालों में काल की कुटिलता के कारण जो विकार पैदा होते हैं, वे चिरस्थायी नहीं रहते। चरित्र-रक्षा एक प्रकार की सन्दली ज़मीन है, जिस पर यश सौरभ इत्र के समान बनाए जा सकते हैं. अर्थात् जैसे गंधी सन्दल का पुट देकर हर किस्म का इत्र उस में से तैयार करता है, वैसे ही चरित्र जब आदमी का शुद्ध है, तो वह हर तरह की योग्यता प्राप्त कर सकता है। शुद्ध चरित्र वाला मनुष्य सब जगह प्रतिष्ठा पाता है, और वह जिस काम में सन्नद्ध होता है, उसी में पूर्ण योग्यता को पहुँच हर तरह सरसब्ज़ होता है।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते,
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति ।

अर्थात्—जैसे मैला कपड़ा पहने हुआ मनुष्य जहाँ चाहता है, कपड़ों में दाग लग जाने का ख्याल उस आदमी को बिलकुल नहीं रहता. उसी तरह चलितवृत्त अर्थात् जिसके चाल-चलन में दाग लग गया है, वह फिर बाकी अपने और चरित्रों को भी नहीं

बचा सकता, वरन वह नित्य-नित्य बिगड़ता जाता है। मन, जिह्वा और हाथ का निग्रह चरित्रपालन का मुख्य अंग है। जिन्होंने मन को कुपथ पर जाने से रोका है, जीभ को दूसरे की चुगली-चवाई से या गाली देने से रोका है, और हाथ को दूसरे की वस्तु चुराने से या ले लेने में रोक रक्खा है, वही चरित्र-पालन में उदाहरण दूसरों के लिए हो सकता है। ऐसा मनुष्य कसौटी के कसे जाने पर खरे से खरा निकलेगा।

> वरं विन्ध्याटव्यामनशनतृषार्तस्य मरणं
> वरं सर्पाकीर्णे तृणपिहितकूपे निपतनम्।
> वरं गर्तावर्ते गहनजलमध्ये विलयनं
> न शीलाद्विभ्रंशो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः।

सच है, कुलीन समझदार साक्षर के लिये चरित्र में दाग लगना ऐसी ही करी बात है कि उसे अपना जीवन भी बोझ मालूम होने लगता है। जैसा ऊपर के श्लोक में कवि ने कहा है कि--। "विंध्य पहाड़ के वन में भूखा-प्यासा हो मर जाना अच्छा, तिनकों से ढके सर्पों से भरे कुएं में गिरकर प्राण दे देना श्रेष्ठ, पानी के भंवर में डूबकर विला जाना उत्तम पर शिष्ट पढ़े-लिखे मनुष्य का चरित्र से च्युत हो जाना अच्छा नहीं।" रुपया-पैसा हाथ का मैल है, आता-जाता रहता है, किन्तु बात गए बात फिर नहीं बनता। इसीलिये धन का दरिद्र, यदि वह सुचरित्र में आढ्य हो, तो दरिद्र नहीं कहा जा सकता, जिन की आँख का

पानी ढरक गया है उनको चरित्र-पातन कोई बड़ी बात नहीं है, और न इसकी कुछ कदर उन्हें है, किन्तु जो चरित्र को सबसे बड़ा धन माने हुए हैं वे अत्यन्त संयम के साथ बड़ो सावधानी से संसार में निबाहते हैं। यावत् धर्म, कर्म और परमार्थ-साधन सबका निचोड़ वे इसी को मानते हैं। ऐसे लोग जन-समाज में बहुत कम पाये जाते हैं, हज़ारों में कहीं एक ऐसे होते हैं, और ऐसे ही लोग समाज के अगुआ, राह दिखलाने वाले, आचार्य, गुरु रसूल या पैगंबर हुए हैं और आप्त तथा शिष्ट माने गये हैं। उनके एक-एक शब्द जो मुख से निकलते हैं तथा उनका उठना बैठना, चलना-फिरना अलग-अलग चरित्र-पालन में उदाहरण होता है। जो प्रतिष्ठा बड़े-से-बड़े राजाधिराज सम्राट्, बादशाह, शाहंशाह को दुर्लभ है, वह चरित्रवान् को सुलभ है, और यह प्रतिष्ठा चरित्र-पालन वाले को सहज ही मिल गई हो, सो नहीं वरन् सच कहिए तो यह असिधाराव्रत हैं संसार के अनेक सुखों को लात मार बड़े-बड़े क्लेश उठाने के उपरान्त मनुष्य इसमें पक्का हो सकता है।

चरित्र से बहुत मिलती हुई दूसरी बात शील है। शील का चरित्र में ही अन्तर्भाव हो सकता है। चरित्र-पालन में चतुर शील-संरक्षण में भी प्रवीण हो सकेगा, किंतु शील संरक्षण में विचक्षण मनुष्य चरित्र-पालन में प्रवीण नहीं हो सकता। अँगरेज़ी में शील के लिये 'कांडक्ट' (Conduct) और चरित्र के लिये 'कैरेक्टर" (Character) शब्द हैं। आदमी

को बाहरी चाल-चलन का सुधार, शील या "कांडक्ट" अथवा "बिहेवियर" ( Behaviour ) कहा जायगा, किन्तु मनुष्य का आभ्यंतर शुद्ध जब तक न होगा, तब तक बाहरी सभ्यता 'चरित्र' नहीं कहलावेगी। श्री रामचन्द्र, युधिष्ठिर, बुद्धदेव तथा महात्मा ईसा के चरित्र-पालन का समाज पर वैसा ही असर होता है, जैसा रक्त-सञ्चालन का शरीर पर। सुस्निग्ध पुष्ट भोजन से जो रुधिर पैदा होता है, वह शरीर को पुष्ट और निरोग रखता है, वैसा ही जिस समाज में चरित्र-पालन की क़दर है और लोगों को इसका ख़याल है कि हमारा चरित्र दगीला न होने पावे, वह समाज पुष्ट पड़ती जाती है और उत्तरोत्तर उस की उन्नति होती जाती है। जिस समाज में चरित्र-पालन पर किसी की दृष्टि नहीं है और न किसी को "चरित्र किस तरह पर बनता व बिगड़ता है" इस का कुछ ख़याल है, उस बिगड़ी समाज का भला क्या कहना! कुपथ्य भोजन से विकृत रुधिर पैदा हो कर जैसा शरीर को व्याधि का आलय बना नित्य उसे क्षीण, और जर्जर करता जाता है, वैसा ही लोगों के कुचरित्र होने से समाज नित्य क्षीण, निःसत्व और जर्जर होती जाती है। जिस समाज में चरित्र की बहुतायत होगी, वह समाज सर्वोपरि दीप्यमान होकर देश और जाति की उन्नति का द्वार होगा। हमारी प्राचीन आर्यजाति चरित्र की खान थी, जिन के नाम से इस समय हिन्दू-मात्र पृथ्वी-भर में विख्यात हैं। अफ़सोस! जो क़ौम किसी समय दुनिया के सब लोगों के लिये चरित्र-शिक्षा में नमूना थी वह आज दिन यहाँ तक

गई-बीती हो गई कि दूसरे से सभ्यता और चरित्र-पालन की शिक्षा लेने में अपना अहोभाग्य समझती है ! समय खेलाड़ी ने हमें अपना खिलौना बना कर जैसा चाहा, वैसा खेल खेला। देखें, आगे अब वह कौन खेल खेलता है।

——:o:——

# समाज और कर्त्तव्य-पालन

( श्री गुलाबराय एम० ए० )

---:o:---

**मनुष्य की समाज पर निर्भरता**

यदि संसार में एक ही मनुष्य होता तो शरीर-रक्षा के अतिरिक्त उस का कुछ भी कर्त्तव्य न था। शायद शरीर रक्षा भी कर्त्तव्य की कोटि से निकल जाती। जीवन का कुछ मूल्य ही न रहा, तब जीवन धारण करना किस प्रकार कर्त्तव्य कहा जा सकता है? कट्टर से कट्टर स्वार्थवादी भी समाज की स्थिति चाहते हैं। माना, कि हम अकेले रह कर सारे दृश्य-संसार के राजा बन जावें (Monarch of all I servey) किन्तु जब तक हमारा कोई राजत्व स्वीकार करने को न हो, तब तक हम राजा ही कैसे ? जब हम दूसरों को किसी वस्तु के भोग करने से न रोक सकें, तब हमारा अधिकार ही क्या अर्थ रखता है ? उदार-चित्त मनुष्य भी निर्जन स्थान में कृपण-वत् धन को एकत्र किए बैठा रहेगा। हमारा ऐक्योन्मुख आदर्श भी समाज की अपेक्षा रखता है। दो का ही एकी-

करण हो सकता है। भेद में ही अभेद देखा जाता है। अकेला मनुष्य तो एक है ही। उसके लिये एकता की ओर जाना कर्त्तव्य न रहेगा । 'सर्वभूतहिते रताः' होने के लिये सर्वभूत-स्थिति आवश्यक है । हमारे आदर्श की पूर्त्ति समाज में ही रह कर हो सकती है । समष्टि का हितसाधन कर व्यष्टि में समष्टि का भाव उत्पन्न करना समष्टि से बाहर हो कर नहीं हो सकता। हमारी पूर्ण आत्मप्रतीति, अपनी पूर्ण आत्मा के सम्बन्ध में, जिसका व्यंजन सारे संसार में हो रहा है, समाज में रहकर हो सकती है। समाज से पृथक् रहकर हम अपने आदर्श की किस प्रकार पूर्ति कर सकते हैं ? समाज में हमको जो स्थान मिला है उसके उचित कर्त्तव्यों का पालन करने से हम अपने आदर्श की पूर्ति कर सकते हैं।

समाज में प्रत्येक मनुष्य अपनी विशेष स्थिति रखता है । जिस प्रकार किसी मशीन में हर एक पुर्जा मशीनके चलने में योग देता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थानोचित क्रिया कर के संसार के निर्विघ्न संचालन में योग देना आवश्यक है। जैसे एक पुर्जे के खराब होने से सारी मशीन खराब होती है, वैसे ही एक व्यक्ति के धर्मच्युत होने से सारा समाज भ्रष्ट होजाता है। धर्मच्युत होने से यदि केवल व्यक्ति ही की हानि होती, तो शायद धर्म का पालन न करना इतना दोष-पूर्ण न होता। किंतु जब एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है, तब व्यक्ति

**समाज में व्यक्तिकी स्थिति और उत्तर-दायित्व**

का धर्मपरायण रहना परमावश्यक हो जाता है व्यक्ति का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इस लिये श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि, 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।' अर्थात् अपने धर्म में मृत्यु अच्छी है, दूसरा धर्म भय का देने वाला है। यदि अर्जुन उस समय क्षत्रिय-धर्म को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लेता तो वह समाज में अधर्म फैलानेवाला बन जाता। अर्जुन को समझाते हुए भगवान् ने कहा है—

* स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥

\+ + + +

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

**वर्णाश्रम धर्म और कर्त्तव्य का सापेक्षत्व**

हमारे देश में वर्णाश्रम-धर्म द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य पहले से ही निश्चित कर दिया गया है। यह बात कहाँ तक निर्विवाद है, इसके लिये हम कुछ न कहकर इतना अवश्य कहेंगे कि वर्णाश्रम-धर्म कर्तव्य-शास्त्र की बहुत सी

---

* स्वधर्म को देखकर तुमको थर्राने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि क्षत्रियके लिए धार्मिक युद्ध से श्रेष्ठतर क्या हो सकता है।

\+ + + +

यदि तुम धार्मिक युद्ध से मुँह मोड़ोगे तो धर्म और सुयश से हाथ धोकर पाप के भागी होगे।

आवश्यकताओं को पूर्त्ति करता है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम में भिन्न-भिन्न धर्म्म होने के कारण सब मनुष्यों का एक सा कर्त्तव्य नहीं रहता। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्त्तव्य का आदर्श बदल जाता है, किन्तु समाज में आदर्श की पूर्त्ति के भिन्न-भिन्न साधन होना आवश्यक है। समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार और रुचि के मनुष्य चाहिएँ। इस कारण उनके कर्त्तव्यों में अवश्य भेद चाहिए। सबका एक सा कर्त्तव्य नहीं हो सकता। जो ब्राह्मण के लिए कर्त्तव्य है, वह क्षत्रिय के लिए अकर्त्तव्य है। सब एक लाठी से नहीं हाँके जा सकते। समाज में यदि सभी लोग मनन-शील बन जायँ तो उसका चलना कठिन हो जाय। वर्णविभाग करके हिंदू-धर्म ने कर्त्तव्य के सापेक्षत्व (Relativity of Ethics) को भली भाँति दिखलाया है। आश्रमों के विभाग कर देने से लोगों के कर्त्तव्य में बड़ी सुगमता पड़ गई है। विद्योपार्जन के साथ ही साथ धर्मोपार्जन नहीं हो सकता और धर्मोपार्जन के साथ मौन-व्रत धारण करके वन में बैठना नहीं हो सकता। वर्णाश्रम-धर्म के यथोचित परिपालन से समाज की अच्छी उन्नति हो सकती है। लोक-संग्रह का भी अर्थ स्थानोचित कर्त्तव्यों का पालन तथा समाज के धर्म में स्थिति रखना है। समाज में साम्य स्थापित करने के अर्थ किसी काम को कर्त्तव्य-दृष्टि से करना सच्चा निष्काम कर्म है और इसी में सच्ची आत्म-प्रतीति भी होती है, क्योंकि समाज

आत्मा का ही विकास है। अपना स्वार्थ छोड़ सामाजिक हित के अर्थ कर्म करना 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' का ही अर्थ रखता है, क्योंकि मनुष्यसमाज ईश्वर की सत्ता में विश्वास का श्रेष्ठ व्यंजक है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास रखे बिना समाज की स्थिति चाहना वृथा है।

समाज में साम्य किसलिये स्थापित करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देना उन लोगों के लिये, जो समाज में अपनी आत्मा का प्रकाश देखते हैं, कुछ कठिन नहीं। किंतु जो लोग आत्मसत्ता में विश्वास नहीं करते, उनके लिये सामाजिक स्थिति वा साम्य एक प्रकार का पाखंड ही है। समाज की स्थिति की चेष्टा किसलिये की जाय ? प्रकृतिवादियों की ओर से यह उत्तर मिलेगा कि समाज की ही स्थिति में व्यक्ति का पूर्ण लाभ है। ठीक है, मनुष्य की चेतना को मस्तिष्क के परमाणुओं की क्रियाओं का परिणाम माननेवाले लोगों के मत में व्यक्ति की स्थिति का भी कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य इस संसार की आकस्मिक क्रियाओं का फल है। इस प्रकृति के विशेप संघात ( जिसे कि मनुष्य कहते हैं ) के जीवित रहने से क्या लाभ ? यदि यह कहा जाय कि इस विशेप संघात का मूल्य बहुत बढ़ गया है तो ठीक है। किंतु वह मूल्य किसके लिये है और उसका जाननेवाला कौन है, इसका उत्तर नहीं। हम पहले बता चुके हैं, कि आस्तिकता के दृढ़ आधार पर ही कर्त्तव्य-शास्त्र का भव्य-भवन बनाया जा सकता है। जब तक

हम आत्मभाव ( Personality ) के विशेष मूल्य को न मानेंगे, तब तक हम संसार में मूल्यों के समझनेवाले को मानकर विज्ञान की संकुचित दृष्टि को विस्तृत न कर सकेंगे। जब तक हम सारे समाज को एक ही ज्ञान-स्वरूप सत्ता ( आत्मा ) का विकास न समझेंगे, तब तक 'सर्वभूतहिते रताः', 'समाज में साम्य स्थापित करना', 'समाज की स्थिति बनाए रखना', 'जीवन की मात्रा को बढ़ाना' ये सब वाक्य निरर्थक ही रहेंगे।

सामाजिक विकास और उसकी वर्त्तमान स्थिति भी समाज के आध्यात्मिक आधार होने के साक्षी हैं। समाज में इतनी खराबी होने पर भी, अपने कर्त्तव्य-पालन की स्वतन्त्रता है। मानसिक आदर्श के अनुकूल ही हमारा सामाजिक

**हमारे आदर्श और सामाजिक संस्थाएँ**

संस्थान भी बनता जा रहा है और हमारी सामाजिक संस्थाओं के अनुसार हमारे कर्त्तव्य-सम्बन्धी विचार भी दृढ़ होते जाते हैं। दोनों ही एक दूसरे के आश्रय हैं। हमारे देश के अविभक्त कुटुम्ब, वर्णव्यवस्था, आश्रम-धर्म, पाठशालाएँ, उत्सव,रीति-व्यवहार आदि सभी उपनिषदों-द्वारा प्रतिपादित एकात्मवाद की अनुकूलता दिखा रहे हैं। हमारे यहाँ के प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ताओं ने स्वतन्त्र लेखक होने का गौरव अस्वीकार कर अपने को टीकाकारों अथवा भाष्यकारों की नीची कोटि में रख कर ही अपने जीवन को सफल समझा है। गृहस्थाश्रम के धर्म ऐसे रखे गए हैं, जिसमें ऐक्यभाव स्वतः ही उत्पन्न होता रहे। यह आश्रम बड़ा भारी कर्त्तव्यस्थल

है। इसी लिये इसकी महिमा भी बहुत है। मनु महाराज ने कहा है--

> यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
> तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥३।७७
> यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
> गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ३। ७८
> ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
> आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः॥ ३। ८०*

और स्थानों में भी गृहस्थाश्रम की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है—

> न्यायार्जितधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
> शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ †

---

*अर्थ—जिस प्रकार सब जीव-जन्तु वायु का आश्रय ले कर जीवन निर्वाह करते हैं; उसी प्रकार इतर सब आश्रम गृहस्था-श्रम के ही सहारे बसते हैं। अन्य तीन आश्रमवाले लोग गृहस्थ लोगों से ही अन्न और ज्ञान प्राप्त करते हैं; इसलिये गृहस्थआश्रम और आश्रमों से बड़ा है। ऋषि; पितर देव जीवधारी और अतिथि सभी गृहस्थाश्रम का सहारा लेते हैं। इस गृहस्थाश्रमवाले को इनके प्रति अपना धर्म जानकर आचरण करना चाहिए।

† न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, आत्मज्ञान में निष्ठा रखने वाला, अतिथि सेवा करने वाला; शास्त्र को जाननेवाला और निरन्तर सत्य बोलनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कांता न दुर्भाषिणी,

सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ।

आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे

साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥ ‡

यदि गृहस्थाश्रम में धन का उपार्जन और दान कर्त्तव्य माना गया है, तो गृहस्थों का दान स्वीकार करने को और आश्रम भी बना दिए गए हैं। यदि संन्यासियों को धर्मोपदेश देने का भार दिया गया है, तो उनके उपदेश से लाभ उठाने के लिये लोग वर्त्तमान हैं। यदि संसार की स्थिति बनाए रखना और प्रजोत्पादन करके ऋषि-ऋण चुकाना धर्म माना गया है तो उसकी पूर्त्ति के लिये विवाह की संस्था वर्त्तमान है। यदि देना धर्म है तो दान के लेनेवाले भी विद्यमान हैं। यदि समाज का सङ्गठन श्रेय माना गया है, तो उस के लिए राज्य और साम्राज्य वर्त्तमान हैं। ये सब बातें यह बतलाती हैं कि हमारी सामाजिक संस्थाएँ हमारे आदर्शों के अनुकूल ही बनी हैं और इनके द्वारा हमारे आदर्शों की भली

‡ उस गृहस्थाश्रम को धन्य है, जहाँ आनन्ददायक गृह है, जहाँ बुद्धिमान् पुत्र हैं, जहां स्त्री कटुभाषिणी नहीं है, जहाँ अच्छे मित्र हैं, खूब धन है, जहाँ अपनी स्त्री के प्रति प्रेम है, जहाँ नौकर आज्ञाकारी हैं, जहाँ अतिथि-सत्कार होता है, जहाँ ईश्वर का पूजन नित्य होता है, मिठाई आदि भोजन रक्खे रहते हैं, और जहाँ निरन्तर ही सज्जनों का समागम होता रहता है।

भाँति पूर्त्ति होना संभव है। व्यक्तियों द्वारा यथोचित लाभ न उठाये जाने के कारण बहुत सी संस्थाएँ बिगड़ भी जाती हैं। हम यह मानते हैं कि किसी देश की संस्थाओं का प्रभाव सब मनुष्यों पर एक सा नहीं पड़ता, क्योंकि देखा गया है कि जहाँ पर बहुत से विवाह करना मना नहीं हैं, वहाँ पर भी बहुत से लोग एक-पत्नी-व्रत को दृढ़त पाल रहे हैं। और जहाँ पर कि समाज में एक स्त्री से अधिक रखने की आज्ञा नहीं वहाँ पर भी बहुत से लोग इस रिवाज से यथोचित लाभ नहीं उठाते। तथापि इसमें कुछ सन्देह नहीं, कि सामाजिक संस्थाएँ हमें कर्त्तव्य परायण बनाने में बड़ी सहायता देती हैं और हमारे आदर्शों के लिये भौतिक ढाँचे की भाँति काम करती हैं।

**सामाजिक संस्थाएं और धार्मिक उन्नति**

जिस प्रकार किसी कार्य को करते करते व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है, उसी प्रकार सामाजिक संस्थाएँ समाज का स्वभाव हैं, और जिस तरह मनुष्य स्वभाव से जाना जाता है, वैसे ही समाज अपनी संस्थाओं द्वारा जाना जाता है। यूनान देशीय आदर्श वहाँ की संस्थाओं में वर्तमान थे। हमारे देश के वर्णाश्रम धर्म इस बात को क्या ही विद्वत्ता से प्रमाणित कर रहे हैं कि सामाजिक संस्थाएँ मानव-जीवन को कहाँ तक बुरा भला बना सकती हैं। कभी ऐसा भी देखा गया है कि सामाजिक संस्थाएँ समाज के आदर्श के अनुकूल नहीं रहतीं। तभी धर्म का ह्रास होने लगता है, धर्मोद्धार की आवश्यकता पड़ने लगती है,

आवश्यकता के अनुकूल उनका आविर्भाव भी होने लगता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

समाज के आदर्श को स्पष्ट करना और उससे संस्थाओं की संगति करना ही धर्मोद्धारक का मुख्य कर्त्तव्य होता है। यह कार्य धर्मोद्धारकों के ही बाँटे में नहीं पड़ा, वरन् प्रत्येक छोटे से छोटा मनुष्य भी पूरा धर्मोद्धारक है। इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि समाज के आदर्शों की, उसके धर्मों की और संस्थाओं की एकता करके, अपने आदर्श को समाज के आदर्श में मिला कर और अन्यान्य आदर्शों तथा संस्थाओं के अनुकूल अपने कर्मों को बना कर, समाज में अपनी पूर्ण आत्म-प्रतीति करे।

इस प्रकरण की समाप्ति के पूर्व समाज की व्याप्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समाज का संकुचित

**समाज के व्रत का विस्तार**

अर्थ माना जाय, तो उसकी व्याप्ति किसी विशेष सम्प्रदाय के लोगों से बाहर नहीं जाती, किन्तु उसके विस्तार का अन्त नहीं हो सकता। घर से लेकर मानवजाति तक समाज का घेरा है। क्या हम इस घेरे को और नहीं बढ़ा सकते? क्या पशु-पक्षी और कीट-पतंगों को भी हम अपने समाज में सम्मिलित कर सकते हैं? इसके उत्तर में कहा जायगा कि जिन जीवों का इतना विकास हुआ है कि वे हमारी गोष्ठी में सम्मिलित किए जायँ, वे उसमें सम्मिलित

किए गए हैं । मनुष्यों और जानवरों का क्या संग ? समाज के व्यक्तियों में एक दूसरे को सहायता देने का पारस्परिक भाव रहता है। मनुष्यों और पशुओं में पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता, इस लिये उन्हें मनुष्य समाज में स्थान देना असम्भव है। इस विषय में एक और वाधा उपस्थित हो सकती है, कि समाज में व्यक्तियों का सम्बन्ध होता है और बहुत से जानवरों में व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। इन तीनों बाधाओं पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। विकास की श्रेणी में पशु पत्ती अवश्य नीचा स्थान पाते हैं किन्तु क्या यह बात उनको हमारी दया, अनुकंपा और सहायता से वंचित रखने के लिए ठीक है ? यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मनुष्य-समाज में भी विकास की कई श्रेणियाँ हैं, किंतु आजकल की सभ्यता में सबका जीवन-मूल्य बराबर समझा जाता है । सभ्य मनुष्य के मारने पर भी फाँसी होती है और असभ्य जंगली मनुष्य, पागल व वालक के मारने पर भी वही दंड दिया जाता है। क्या यह जीवन-सम्मान (Respect for life) मनुष्य-समाज में ही संकुचित रखना चाहिए ? क्या अपने विचार में जीवन की शृंखला पीछे नहीं हटाई जा सकती ? क्या हम उसी जीवन-शृंखला की एक कड़ी नहीं, जिसके कि पशु पत्ती हैं ? क्या जानवरों को जीवित रहने का वही नैतिक अधिकार नहीं जो हम लोगों को है ? क्या उनका मूल्य उनके समाज में उतना ही नहीं जितना कि हमारा मूल्य हमारे समाज में है ? दांपत्य प्रेम तो कहीं कहीं जानवरों में मनुष्यों के ही बराबर देखा

गया है। क्या पशु, पक्षी, कीट, पतंग इस विश्व के कार्य-विभाग में स्थान नहीं पाते ? क्या विकासवाद के मत से जीवधारी मात्र एक कुटुम्ब के नहीं हैं ? पशु पक्षी, कीट, पतंग संसार के कार्य-विभाग में अपना अपना काम कर रहे हैं। वृक्षों के फल-वान् होने में पक्षी, कीट, पतंग कहाँ तक साहाय्य देते हैं, यह बात किसी विज्ञ पुरुष से छिपी नहीं है। हम जिन श्रेणियों द्वारा विकास को प्राप्त हुए, अब ऊँचे बन कर उनका तिरस्कार करना हमारी उच्चता को शोभा नहीं देता। दूसरी बाधा पर विचार करते हुए हम केवल इतना ही कहेंगे, कि बदले का व्यवहार कानून की दृष्टि में चाहे आवश्यक हो, किन्तु धर्म और कर्त्तव्य की दृष्टि से यह बाहर है। कर्त्तव्य-पालन-द्वारा हमको सद्‌गुण-वृद्धि तथा आत्म तुष्टि सरीखे मधुरतम फल मिलते हैं। यदि बदले की रीति से देखा जाय, तो भी मनुष्य अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता। पशुओं से मनुष्य-जाति का जो उपकार हुआ है, वह हिंसक पशुओं-द्वारा पहुँचाई हुई हानि से अधिक है। खैर, इस बात को जाने दीजिए। मनुष्य-समाज ने हिंसक पशुओं से बदला लेने में कुछ रख नहीं छोड़ा। केवल इतना ही नहीं, वरन् और पशु भी, जो मनुष्य-जाति की हानि करते हैं, मनुष्य-द्वारा उचित दंड पाए बिना नहीं रहते। फिर मनुष्यों को क्या अधिकार है कि वे निरपराध पशुओं को सतावें ? वे तो बदला ले नहीं सकते। पारस्परिक उपकार का प्रश्न भी एक प्रकार से नहीं उठता। पशु-संसार मनुष्य से उपकार नहीं चाहता, वह तो अभयदान चाहता है। वह सहायता नहीं चाहता;

इतना ही चाहता है, कि मनुष्य अपनी इननेच्छा को थोड़ा वश में रखे। मनुष्य की उन के प्रति इतनी ही सेवा पर्याप्त है, कि वह उन्हें जीवित रहने दे। वे ऐसी सेवा चाहते हैं जैसी कि निषाद ने श्री-रामचन्द्र को अपनी सेवा बतलाई थी कि 'यह हमार अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न भूषण वसन चुराई'। तीसरी कठिनाई जो व्यक्तिता के विषय में है, पहली कठिनाई से मिलती जुलती है। व्यक्तिता की भी श्रेणी है। माना कि पशु-पक्षियों की व्यक्तिता मनुष्य की भाँति स्पष्ट नहीं है, और न उनमें मनुष्य का सा आत्म-भाव (Personality) ही वर्तमान है, किन्तु उनमें व्यक्तिता और आत्म-भाव किसी न किसी अंश में है अवश्य उनकी व्यक्तिता उस पौधे की भाँति है, जो थोड़ा ही बढ़ कर रह गया हो। जानवरों में यदि मनुष्य की सी व्यक्तिता और आत्मभाव वर्तमान होता तो, उस अवस्था में, वे मनुष्य की बराबरी का ही दावा कर सकते थे। किन्तु इस अवस्था में क्या वे जीवन-दान की भी आशा नहीं रख सकते? वे मनुष्य की बराबरी नहीं चाहते, वे मनुष्य की राजनीतिक सभाओं के सदस्य नहीं होना चाहते, जिसके लिये उनकी मानसिक योग्यता पर विचार किया जाय। वे तो जीवधारी हैं, इसी से केवल जीवित रहने का अधिकार चाहते हैं। इन सब बातों पर विचार करके हम अपने समाज की सीमा को प्राणिमात्र तक बढ़ा दें, तो हम अपनी सच्ची आत्मा-प्रतीति के सच्चे सहायक ही बनेंगे। समाज को इस विस्तृत दृष्टि से देखने के लिए हमको अपने आत्म-सम्बन्धी विचारों को भी

विस्तार देना होगा। जैसे जैसे हमारे आत्म-सम्बन्धी विचार विस्तृत होते जाते हैं, वैसे ही वैसे हमारी आत्म-प्रतीति का क्षेत्र बढ़ता जाता है। जो लोग अपनी व्यक्तिता ही में अपनी आत्मा को संकुचित कर देते हैं उनकी आत्म-प्रतीति स्वार्थ-साधन में ही होती है। किन्तु हम उसे सच्ची आत्म-प्रतीति नहीं कह सकते। सच्ची आत्म-प्रतीति तभी हो सकती है, जब हम अपनी आत्मा को पूरा विस्तार देकर समष्टि की आत्मा से मिला दें और समष्टि के हित को अपना हित समझें। यह बात कठिन नहीं है। बहुत से लोग आत्म-कल्याण को देश के हित-साधन में देखते हैं, और बहुत से इससे भी आगे बढ़कर अपने हित को साम्राज्य के हित में मिला देते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो मनुष्य मात्र का हित और अपना हित एक कर देते हैं। इससे भी एक ऊँची श्रेणी प्राणिमात्र से अपनी एकता करने वालों की है। हिन्दू धर्म ग्रंथों ने अधिकतर इसी विस्तृत भाव का उपदेश दिया है। स्मृति-ग्रन्थों में अतिथि सत्कार के साथ जानवरों को भी भाग देना गृहस्थों का धर्म बतलाया है 'सर्वभूतहिते रताः', 'जीवेषु दयां कुर्वन्ति साधवः', 'निर्वैरः सर्वभूतेषु', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः' इत्यादि वाक्यों-द्वारा कर्त्तव्य को मनुष्य-समाज से बढ़ाकर प्राणिमात्र के प्रति कर दिया है। यही पूर्ण आत्म-संभावना वा आत्म-प्रतीति है।

कुछ लोग इस विस्तृत दृष्टि पर यह शंका अवश्य उठावेंगे कि जो लोग अपने दृष्टि-कोण को इतना विस्तृत कर देंगे, उनको

समाज की व्याप्ति बढ़ाने में संभावित आपत्तियाँ और उनका निराकरण

कोई भी पदार्थ स्पष्टतः न दिखाई पड़ेगा। जो लोग सब के हित में तत्पर रहते हैं वे किसी के भी हित साधन में सफल नहीं होते। कभी कभी ऐसा भी होता है, कि निकटवर्तियों के हित में और मनुष्य मात्र के हित में विरोध पड़ जाता है, और जिनके प्रति हमारा मुख्य कर्त्तव्य है, वे हमारी उदारता से वंचित रह जाते हैं। इसलिये प्राणि-मात्र के हित-साधन की इच्छा न करते हुए समाज के एक परिमित भाग का ही हित-साधन श्रेय है। यह शंका क्रियात्मक है। इस शंका से हमारे सिद्धांत के न्याय होने में बाधा नहीं पड़ती। अब इस पर कर्त्तव्य बुद्धि से भी विचार कर लेना चाहिए। इस शंका के उठाने वाले स्वार्थ पर पूर्णतया विजय नहीं प्राप्त कर सकते। व्यवहार में स्वार्थ को जीतना कठिन है, किन्तु यह बात किसी सिद्धांत की सत्यता में बाधा नहीं डाल सकती। इस शंका का मूल इस विचार में है कि उपकारी मनुष्य के निकटवर्ती लोग उसके उपकार से लाभ उठाने के अधिकारी हैं। अँगरेज़ी में एक लोकोक्ति है कि 'Charity begins at home' अर्थात् दान का आरंभ घर से ही होना चाहिए। किन्तु उस के ऊपर किसी ने यह भी कहा है 'But it should not end there' अर्थात् उसका अन्त घर में ही न हो जाना चाहिए। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि घर के लोग भूखों मरे और बाहर वालों को धन लुटाया जाय। किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा, कि जो स्वार्थत्याग, आत्म-समपर्ण

और उदारता के गुण मनुष्य-मात्र के लिये उदारता दिखलाने में बढ़ते हैं, वे निकटवर्ती लोगों के साथ दिखलाने में नहीं बढ़ते।

निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार करने में एक प्रकार का उदात्त स्वार्थ लगा रहता है। वाइबिल में * ईसा मसीह ने डाकुओं-द्वारा आहत एक मनुष्य का आख्यान कहते हुए बतलाया है कि तेरा पड़ोसी वही है; जिस के साथ तू उपकार कर सके।' जब हम अपना स्वार्थ छोड़ कर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धांत को मानने लगेंगे, तब समीप और दूर के लोग बराबर हो जायँगे। यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि कोई एक मनुष्य सारे विश्व का उपकार नहीं कर सकता। वह अपने निकटवर्ती लोगों के साथ ही उपकार करेगा। किन्तु उपकार करते समय, जिस बुद्धि से कार्य किया जाय, उसमें ही स्वार्थ और परार्थ हो जाता है। जब हम किसी का उपकार स्वार्थ-बुद्धि से करते हैं, तब हम स्वार्थी हैं। किन्तु जब स्वार्थ त्यागकर किसी का उपकार करते हैं, तब हम विश्व का ही हित-साधन करते हैं। जिस मनुष्य का हम उपकार करते हैं, वह विश्व का एक अंग है और अंग अंगी से पृथक नहीं। जो हमारी किसी उँगली पर मरहम लगावे, तो वह हमारे सारे शरीर की ही सेवा करता है। हम उपकार चाहे जिसके साथ करें, किन्तु हमारी बुद्धि निःस्वार्थ होनी चाहिए। यदि हम

---

*लूक रचित सुसमाचार अध्याय १०:३०।—३७।

निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार कर रहे हैं, और कोई ऐसा अवसर आ जाय, कि दूर का मनुष्य हमारी सहायता की आवश्यकता रखता हो, और उसको सहायता पहुँचाना संभव भी हो और हम उसकी सहायता न करें, केवल इस विचार से कि उस मनुष्य से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, तो हम को विश्व-हित के विरुद्ध जाना होगा। यदि यह कहा जाय कि देश-हित और मानव-जाति के हित में कभी कभी विरोध पड़ता है, अथवा कुटुम्ब के हित और समाज के हित में विरोध पड़ता है, तो क्या ऐसी अवस्था में विस्तृतदृष्टि ही श्रेय है ? देखा गया है कि बहुत से बड़े बड़े आदमियों ने देश-हित के लिये कुटुम्ब के हित को तिलांजलि दी है। राजकीय आईन की मान-मर्य्यादा रखने के लिये अपने पुत्र वा निकटवर्ती कुटुम्बियों को प्राणदंड तक दिया गया है। अपनी रक्षा कुटुम्ब की रक्षा से है कुटुम्ब की रक्षा देश की रक्षा से है, देश की रक्षा मानवजाति की रक्षा से है और मानव-जाति की रक्षा विश्व की स्थिति में है। कभी कभी देश और मानव जाति के हित में जो विरोध पड़ा करता है, उसका कारण यह है कि मानव-समाज में अभी भिन्न भिन्न आदर्श वर्तमान हैं। जैसे जैसे आदर्शों की एकता होती जायगी और जैसे जैसे मनुष्य-समाज एक प्रेम-सूत्र में बँधता जायगा, वैसे ही वैसे देश-भक्ति और विश्व-प्रेम में विरोध घटता जायगा। मानव-जाति का एक बड़ा साम्राज्य बन जायगा, जिसमें पशु-पक्षी आदि भी अपना उचित स्थान पावेंगे। एक नियम में बद्ध होने से विरोध घट जाता है।

मनुष्य-समाज इस आदर्श की ओर जा रहा है। इस आदर्श की पूर्ति में योग देना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है । एक नियम और आदर्श में वद्ध समाज में रहकर ही सच्ची आत्म-प्रतीति की संभावना है । जो इस संभावना को वास्तविकता में परिणत करने की चेष्टा करते हैं,वे उस चेष्टा में अपनी आत्म-प्रतीति कर रहे हैं । जब समाज में रहकर और समाज के हित से अपना हित मिला देने में ही आत्म-प्रतीति की आशा है, तव समाज में प्रतिष्ठित धर्मों को अपने आदर्श में घटाना आवश्यक है ।

---

# रामचरितमानस का महत्त्व

( श्री कालिदास कपूर )

इस लेख में रामचरितमानस के विधाता गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित के विषय में कुछ नहीं कहना है, न रामचरितमानस के अतिरिक्त उनके किसी और ग्रंथ के विषय में विचार करना है।

संसार के कवि समाज में तुलसीदास का ऊँचा आसन है। उनका जीवन-चरित लिखने वालों को वही कठिनाइयाँ पड़ती हैं, जो शेक्सपियर के भक्तों को इँगलिस्तान में, होमर के भक्तों को यूनान में, और कालिदास, वाल्मीकि और कृष्ण के भक्तों को भारत में पड़ी है। और इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं, क्योंकि कवि के समान निःस्वार्थ जीवन संसार में किसी और का नहीं होता। कवियों का मन उनके शरीर से सम्बन्ध न रख कर प्रकृति के प्रत्येक अंश में विचरता है और उसको जीवन प्रदान करता है। उसी जीवित प्रकृति को वे, कविता के रूप में, संसार के लिए छोड़ जाते हैं। उनके मनोभावों या उनकी वासनाओं को ढूँढ़ना हो तो उनकी कविता में ढूँढ़ो। जो महाशय उनके स्थूल शरीर के कृत्यों

के विषय में खोज करते हैं, उनका वह कठिन प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है, परंतु उससे उनके विषय में जनता को कुछ विशेष ज्ञानप्राप्ति नहीं होती। अमुक कवि किस वर्ष पैदा हुआ, कहाँ और किससे अध्ययन किया, कौन-कौन विषयों में पारदर्शिता प्राप्त की, कौन कौन पुस्तकें किस-किस समय लिखीं, किस समय शरीर छोड़ा—ये सब बातें रुचिकर अवश्य मालूम होती हैं। परन्तु यदि इन बातों का सम्बन्ध कविके जीवन से न हो तो इनमें किसी अन्य साधारण पुरुष के जीवन-चरित की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं मालूम होती। कवि-चरित में जो विशेषता होती है वह उनके मानसिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। अतएव यदि उनके विषय में हमें कुछ जानना है तो जो कुछ वे हमें दे गये हैं उसी से संतोष करना चाहिए। क्या जाने उन्होंने किस लिए अपने शरीर के जीवन को हम से छिपा रक्खा। तो फिर क्यों हम उनकी इच्छा के विरुद्ध चलकर पुराने खँडहरों को तोड़ें और उनके भौतिक शरीर को कष्ट दें। हमें चाहिये कि हम उनकी दिव्य प्रतिभा से उत्पन्न राम, हैम्लेट, ओडीसियस के सदृश वीरों को छाती से लगावें, शकुंतला सीता, हेलेन के सदृश नारीरत्नों को हृदय का शृङ्गार बनावें और उन्हीं के दिव्य स्वरूप में उनके कवियों की आत्मा के दर्शन करें।

रामचरितमानस संसार के महाकाव्यों में गिने जाने योग्य है। चीनी और जापानी भाषाओं का तो मुझे ज्ञान नहीं, परन्तु जो जो महाकाव्य रामचरितमानस के साथ स्थान पाने योग्य हैं उनके नाम सर्वसाधारण से छिपे नहीं। प्राचीन भाषाओं में

कालिदास-कृत रघुवंश, वाल्मीकीय रामायण, होमर-कृत ईलियड, वर्जिल कृत ईनियड और फ़िरदौसी कृत शाहनामा उच्च श्रेणी के काव्य समझे जाते हैं। आधुनिक भाषाओं में मिल्टन का पैराडाइज़ लास्ट अँगरेज़ी में, दाँते का डिवाइन कमेडी इटेलियन में और माइकेल मधुसूदनदत्त कृत मेघनाद्वध बँगला में—ये काव्य उच्च पद पाने योग्य हैं। फ्रच और जर्मन साहित्य में नाटकों और फुटकर कविताओं की तो भरमार है, परन्तु अच्छे महाकाव्यों का प्रायः अभाव ही सा है।

रामचरितमानस के महत्व का निर्णय उन्हीं पूर्व-निर्दिष्ट ग्रंथों में से करना है। इस विषय में हमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। एक तो यह कि हम रामचरितमानस की तुलना महा-काव्यों ही से करेंगे। कविता का एक रूप नाटक और दूसरा आख्यान है, जिसका विस्तार बढ़ने से वह महाकाव्य से करना ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि हम इन ग्रंथों के विशेष-विशेष अंशों की तुलना एक दूसरे से न करेंगे। भाव तथा कवित्व की तुलना न तो हम करने के योग्य ही हैं, न इस छोटे से लेख में ऐसा प्रयत्न करने से इन कवियों के काव्य-सागर में इनके भाव-रत्नों का पता ही लग सकता है। विचार केवल यह करना है कि पूर्वोक्त ग्रंथ में से मनुष्य के हृदय में किसने कहाँ तक स्थान पाया है, और इसी प्रश्न के हल होने पर हम उसके महत्त्व का निर्णय कर सकेंगे।

किसी कविता का जीवन-काल यों स्थिर हो सकता है कि वह मनुष्य के आंतरिक अथवा मानसिक जीवन से कहाँ तक मिलती है; कहाँ तक उससे उत्पन्न हुए भाव उसके मन से मिल जाते हैं, और कहाँ तक वे उसके जीवन को दूसरे ही रंग में रंग देते हैं। जब तक कविताओं में यह आकर्षण-शक्ति रहती है, तभी तक वे जीवित रहती हैं; उसके पश्चात् उनका अंतकाल आ जाता है । चाहे वे पुस्तक-रूप में जितने समय तक रहें, परन्तु मनुष्य के हृदय में उनको स्थान नहीं मिलता । बहुत-सी कविताएँ किसी विशेष देश या काल के लिए ही होती हैं । उनका जीवन उसी समय तक के लिए होता है और उनकी प्रचार-सीमा भी उसी देश या काल के अंतर्गत रहती है । ऐसे कविता रत्न थोड़े ही हैं जो सर्व-व्यापी हों, जो किसी देश या काल के बन्धन से न बँधे हों। ऐसे ही ग्रंथ अमर होते हैं। ये जहाँ पहुँचते हैं वहीं मनुष्य के हृदय में स्थान पा लेते हैं, इनके जन्मदाता मानसिक जीवन के अंग हो जाते हैं, यह किसी देश या काल के बंधन से नहीं बँधे रहते ।

अच्छा, तो ऐसे ग्रंथों और क्षण-भंगुर कविताओं के भाव में अंतर क्या है ? यही कि मनुष्य के गूढ़ से गूढ़ भावों तक उनकी पहुँच होती है । कविता के रूप में अपने भावों को मनुष्य इन्हीं अमर-ग्रंथों में पाता है, और बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्र एक दूसरे के गले लगते हैं।

भाषा और विषय के संयोग से महाकाव्य का जन्म होता है। भावों तक कवि चाहे जितना पहुँच गया हो, चाहे जितना अच्छा

चित्र उसने उनका खींचा हो, परन्तु जिस भाषा में उसने उनको प्रकट किया है, वह यदि मनुष्य के हृदय में जीवित नहीं, यदि मनुष्य अपने प्रेम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादि को उस भाषा में प्रकट नहीं करता तो वे भाव उस भाषा के रूप में, उसके हृदय तक नहीं पहुँच सकते और वह उन्हें पहचान नहीं सकता। इस विचार से कि वे भाव उसके पूर्वजों के हैं कदाचित् वह उनका आदर करे और अपनी भाषा के आभरण पहना कर उनको पहचानने का प्रयत्न करे। परन्तु उसे पूर्णतया सफलता नहीं प्राप्त होती। यही कारण है कि संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं का जितना आदर है, उन पर हमारा उतना प्रेम नहीं।

इन प्राचीन भाषाओं के अधिकतर ग्रंथों का अनुवाद प्रचलित भाषाओं में हो गया है। इससे लाभ भी अवश्य हुआ है। हम अपने पूर्वजों के साधारण विचारों को अपनी ही भाषा में समझने लगे हैं। परन्तु उनके काव्य-रस का स्वाद हम अनुवादित ग्रंथों में नहीं पा सकते। यदि अनुवादक भी कवि है तो काव्य का ठीक ठीक अनुवाद भी उससे नहीं हो सकता, क्योंकि एक भाषा से दूसरी भाषा में परिवर्तन करते समय वह अपने काव्य-रस की पुट उसमें अवश्य देता है। दृष्टांत के लिए, पोपद्वारा अनुवादित ईलियड वही चीज़ नहीं जो होमर की रचना है। अँगरेज़ी की ईलियड में कुछ और ही स्वाद है और ग्रीक के मौलिक ग्रंथ में कुछ और ही। बेचारी संस्कृत को तो इतना भी सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ कि कालिदास के सदृश कोई योग्य कवि उनके काव्य को किसी प्रचलित

भाषा में अनुवादित करता । यदि ऐसा होता भी तो उसके अनुवाद में शकुन्तला, पार्वती, दिलीप और रघु इसी शताब्दी के होते; आज से पन्द्रह सौ वर्ष पहले के नहीं ।

प्राचीन भाषाओं में लिखित काव्य आधुनिक काव्यों की समता प्रायः इसी एक कारण से नहीं कर सकते कि उनकी भाषा अब सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं हैं । उन काव्यों का आनंद लेने के लिए बरसों उनकी भाषाके शुष्क व्याकरण को कोई रटे, तब कहीं उसे उनके काव्य-रस चखने की योग्यता प्राप्त हो । पर उस समय तक उस रसके स्वाद लेने की शक्ति भी कदाचित् उसमें न रहे, व्याकरण और छन्दःशास्त्र के दोषों को छोड़ कर और कुछ उसे उनमें दिखाई ही न पड़े । इन काव्यों की तुलना हम उस काव्य से कैसे कर सकते हैं, जिसके वाक्य बालक अपनी माँ की गोद ही से सुनने लगते हैं, जिससे उद्धृत उदाहरण उनको डांटने या मनाने के लिए काम में लाये जाते हैं, जिसकी शपथ की सहायता लेकर युवक-युवती प्रणय-पुष्टि करते हैं, और जिसके कथा-सरोवर में वृद्ध किसान कुटुम्ब-सहित स्नान करके कृतकृत्य होते हैं ?

भाषा ही के विचार से नहीं, विषय प्रसंग के भी विचार से, प्राचीन काव्य वर्तमान संसार के लिए उतने उपयोगी नहीं, जितने कि प्रचलित भाषाओं में रचित काव्य हो सकते हैं । प्राचीन काल में मानुषिक सभ्यता की बाल्यावस्था थी । उस समय के विचार सरल और शुद्ध थे, कल्पना-सृष्टि की अधिकता थी और उसका झुकाव विशेषतया मारकाट, लड़ाई-झगड़े और ज़मीन-आसमान

के कुलाबे मिलाने की ओर था, गार्हस्थ्य जीवन की शांतिमयी घटनाओं की ओर नहीं। यही कारण है जो प्राचीन काव्यों के विषय प्रायः एक ही से हैं। प्राचीन ग्रीस में पेरिस हेलन को हर ले गया ट्रोजन-युद्ध हुआ और होमर ने उसका वर्णन ईलियड में किया भारत में रावण सीता को हर ले गया, राम ने लंका जाकर उससे युद्ध किया, विजय पाई, और वाल्मीकि ने इस कथा का वर्णनकर राम और सीता को अमर कर दिया। परंतु वर्त्तमान समय में मनुष्य का अधिकांश जीवन शांतिमय है। इसलिए उस समय के क्लेशपूर्ण विचारों से आजकल के लोगों की सहानुभूति नहीं हो सकती। सभ्यता के विकास के साथ साथ हमारे कल्पित विचारों से भी पहले की सी तीव्रता नहीं रही। हरक्यूलीज़ की १२ कसरतों का हाल पढ़ कर बच्चे चाहे जितना आनंद प्राप्त करें उससे और लोगों का विशेष मनोरंजन नहीं हो सकता। भला बालकों और वृद्धा स्त्रियों को छोड़ कर कौन मान लेगा कि रावण के दस सिर थे, वह पर्वत के सदृश ऊँचा था और कुंभकर्ण छः महीने नशे में चूर सोया करता था। शाहनामे के रुस्तम महाशय भी हरक्यूलीज़ से कुछ कम नहीं। अतएव उनका जीवन-चरित तो हमारे लिए विशेष काम का नहीं।

रघुवंश का पद इन सब काव्यों से ऊँचा है। उसमें अशांति-पूर्ण घटनाएँ उतनी नहीं, कल्पना-शक्ति की दौड़ भी उसमें उतनी नहीं। रस के प्रवाह और उसके आस्वादन की सामग्री का तो कहना ही क्या है! यह काव्य कालिदास की प्रौढ़ावस्था-प्राप्त

कवित्व-शक्ति का फल है।

अब प्रचलित भाषाओं के काव्यों को लीजिये। मिल्टन के पैराडाइज़ लास्ट के विषय में मार्क पेटिसन साहब की शिकायत है कि उसको कालेज से निकलने के बाद अंगरेज़ लोग ही चाव से नहीं पढ़ते, औरों की कौन कहे। इसका कारण यह है कि पैराडाइज़ लास्ट का विषय मनुष्य-जीवन से कुछ संबन्ध नहीं रखता। उस के नायकों को नेत्रहीन मिल्टन के ज्ञानचक्षु ही देख सकते थे, उनके चरित्रों का अनुभव उसी की अपूर्व धर्मबन्धनग्रस्त आत्मा कर सकती थीं, और उसकी भाषा को वही समझ सकता है जिसने उसी की तरह ग्रीक और लैटिन साहित्य का मन्थन किया हो। पैराडाइज़ लास्ट के सहोदर, 'डिवाइन कमेडी' नामक काव्य की भी वही दशा है। वह एक अन्धे अभागे कवि का स्वप्न है। नरक के उस भयानक दृश्य को फिर भला कौन दुबारा देखने की इच्छा करेगा जिसने एक बार भी, दांते की तरह, उसे देखा हो? मेघनाद-वधकाव्य इन सबसे उच्चतम है। माइकेल मधुसूदन के चरित्र जीते जागते वीर और वीरांगनाएँ हैं, और उसके काव्य में ओज है। परंतु उसका विषय ऐसा है कि उसके चरित्र हिंदूसमाज के आध्यात्मिक जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकते।

अब रामचरितमानस को देखिये। इसकी हिंदी भारतवर्ष के अधिकांश वासियों की मातृ-भाषा है, और वह भाषा इतनी सरल है कि अपढ़ ग्रामवासी भी उसे सुनकर किसी साहित्यसेवी विद्वान् से कम आनंद नहीं उठाते। प्राचीनकाल से अब तक कौन ऐसा काव्य

हुआ है, जिसने इतने अधिक मनुष्यों के हृदय में स्थान पाया हो और जिसने उनके जीवन पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो? अँगरेज़-समालोचकों का यह कहना बिलकुल ठीक है कि तुलसीदास से बढ़कर भारतीय समाज का सुधारक कोई नहीं हुआ। ज़रा ध्यान तो दीजिए, सतलज से सोन तक, और हिमालय से विंध्याचल तक, तीन सौ वर्ष से, यदि प्रायः प्रत्येक गाँव में किसी भी ग्रन्थ की चर्चा रही है तो रामचरितमानस की। कोई भी ऐसा हिंदू नहीं जो अपने बालकों को राम और सीता को आदर्श न दिखलाता हो, जिसको समय समय पर रामचरितमानस के दोहे और चौपाइयाँ याद न आ जाती हों, वह पढ़ा हो या बेपढ़ा।

जिस समय अँगरेज़ी विचारों की धारा इसमें ज़ोर से बह रही थी उस समय यह शंका हुई थी कि कहीं हमारे देश का यह अमूल्य रत्न उसमें डूब न जाय। विश्वविद्यालय में उसके लिए कोई स्थान न था और नव-विचार विभूषित हृदयों में हिंदी साहित्य की ओर से घृणा का बीज उग रहा था। परन्तु कुछ समय से वह धारा अपना प्रवाह बदलती हुई दिखाई पड़ती है इस हिंदी रत्न को शिक्षित समाज अब आदर की दृष्टि से देखने लगा है। आशा है कि कुछ समय में इसके लिए उस समाज के हृदय में ऊँचा आसन भी मिल जायगा।

अच्छा, अब देखिये कि इस ग्रन्थ का क्यों इतना आदर है? समय ने बहुत से ग्रन्थों का नाश कर डाला है, परन्तु यह अभी तक मनुष्य-हृदय में विराजमान ही नहीं, दिन पर दिन उसमें अपना

स्थायी घर ब ाता हुआ देख पड़ता है। वाल्मीकीय रामायण भी तो है, पर उस पर इतनी श्रद्धा नहीं। रामचरितमानस पर ही क्यों ?

रामचरितमानस में एक ऐसी बात है जो संसार के किसी काव्य में नहीं। उसमें तुलसीदास ईश्वर को साधारण मनुष्य का रूप देकर उसे सांसारिक जीवन की सभी अवस्थाओं में ले गये हैं राम आदर्श पुरुष हैं पर अपने कार्यों के कारण नहीं, किंतु तुलसीदास की अनन्य-भक्ति के कारण। उनमें वही गुण-दोष हैं जो मनुष्य-मात्र में पाए जा सकते हैं। परन्तु तुलसीदास ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है कि उन्हीं दोषों के कारण रामचन्द्र जी हमारे सगे हो गए हैं। यदि तुलसीदास उनमें गुण दिखाते तो रामचरितमानस वेदांत हो जाता। तब वह इतने आदर का पात्र न रहता। तुलसीदास के रामचन्द्र वाल्मीकि के रामचन्द्र से बहुत कुछ भिन्न हैं। पहले वे राजकुमार थे, अब तो वे मनुष्य-मात्र के सगे ईश्वर हैं। हम उनमें अपना प्रतिबिंब देखते हैं, परन्तु साथ ही साथ तुलसी हमको याद दिलाते जाते हैं कि उन्होंने हमारे और तुम्हारे ही उद्धार के लिए जन्म लिया है।

रामचरितमानस को आदि से अन्त तक पढ़ जाइए और बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक आनन्द लूटिए। बचपन में राम हमारे भाई हैं कौशल्या हमारी मां हैं, और दशरथ हमारे वृद्ध पिता हैं। दूर की यात्रा के लिए आज्ञा देते समय दशरथ उसी तरह दुखी होते हैं जिस तरह कोई वृद्ध पिता अपने पुत्र के दूर जाते समय दुःखी होता है। आज्ञा मिलती है और रामचन्द्र चले

जाते हैं। हम राम से धनुर्विद्या सीखते हैं, वन-वन विचरते हैं, और यौवनावस्था प्राप्त होने पर किसी कुमारी के प्रेमपाश में फँसते हैं। सीता के दर्शन होने पर रामचन्द्र-लक्ष्मण का वार्तालाप कैसा भाव-पूर्ण और कैसे स्वर्गीय प्रेम का उदाहरण है! वाल्मीकि से तुलना कर देखिए। हम तो कहते हैं कि कालीदास की भी पहुँच वहाँ तक नहीं है। सीता तुलसीदास ही की नहीं जगत् की जननी हैं। तुलसीदास रामचरितमानस की नायिका के चरण सेवक हैं। कहिए क्या किसी और कवि ने भी अपने काव्य की नायिका को इतना उच्च पद दिया है? कालिदास शकुन्तला को अपने हृदय में रखते हैं, परंतु तुलसीदास सीता के चरण कमलों पर मस्तक रख कर जगत्पिता रामचन्द्र के साथ उनके प्रणय का वर्णन करते हैं। फिर क्यों न ऐसे वर्णन को बालक से लेकर बूढ़े उसी चाव से पढ़ें और प्रेमोद्रेक से उसी तरह गद्गद् हो जायँ जिस तरह सब से पहले तुलसीदास हुए थे।

परन्तु गार्हस्थ्य जीवन कंटकमय है। क्या तुलसीदास इसका अनुभव न कर चुके थे? बहू को घर आये अधिक दिन न हुए थे कि वह सौतेली सास के ईर्ष्या-बाण का निशाना बनी। राम को वनवास की आज्ञा हो गई।

कौन ऐसा कठोर-हृदय होगा जो इस वर्णन को पढ़कर न पसीज उठे? न मालूम कितने संतान-शोक-संतप्त हृदयों को राम ने आकर सांत्वना दी होगी—

बरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु-बचन प्रमान।
आय पायँ पुनि देखिहौं मन जनि करसि मलान॥

उखड़े हुए हृदय-वृत्त में फिर आशा-पल्लव निकलने लगते हैं और जीवन के सब कार्य फिर ज्यों के त्यों चलने लगते हैं।

रामचन्द्र की वन-यात्रा का अपूर्व प्राकृतिक वर्णन कविता के विचार से बहुत अच्छा है। परन्तु मानसिक चित्र खींचने में बालि को छोड़कर और किसी के लिए तुलसीदास ने विशेष कष्ट नहीं उठाया।

लंकाकांड में युद्ध का वर्णन, पुराने ढङ्ग पर, बड़ी योग्यता के साथ किया गया है, परन्तु मन्दोदरी के चित्र को छोड़कर और सब चित्र असम्भव से मालूम पड़ते हैं। मानसिक चित्र खींचने में तुलसीदास ने जितनी योग्यता बालकांड और अयोध्याकांड में दिखाई है उतनी और किसी कांड में नहीं। उत्तरकांड बालकों तथा युवकों की भी समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकता। फिर ज्ञान का वर्णन भी त्यागी मनुष्यों ही के लिए है। मालूम होता है, तुलसीदास लंकाकांड समाप्त करते करते थक गए थे। इससे वह उत्तरकांड को किसी तरह घसीट ले गये हैं।

परन्तु, चाहे जहाँ देखिए, तुलसीदास राम के प्रेम में मग्न हैं। सेवा करने के लिये वह कहीं निषाद हो जाते हैं और कहीं हनूमान् का अवतार ले लेते हैं।

यदि अगाध भक्ति के कहीं भी उदाहरण देखने हों तो उन

दृश्यों में देखिए जहाँ तुलसीदास भक्ति की भिक्षा मांगते हैं। निषाद कहता है—

पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउर आन दशरथ शपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

हनूमान् जी कहते हैं—

एक मन्द मैं मोहबस कीस हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहिं विसारेहु, दीनबंधु भगवान्॥

फिर वह बन्दर के रूप में सेवा के बदले क्या मांगते हैं—

नाथ भक्ति तव सब सुखदायिनि, देहु कृपा करि सो अनुपायिनि।

और यदि आपको भी सेवा के बदले प्रेम-शिक्षा ही मांगनी हो तो महादेव जी सिफ़ारिश करने को आ जाते हैं—

उमा राम स्वभाव जिन जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

इसी भक्ति-भाव के आधिक्य को देखकर कुछ अँगरेज़-समालोचकों ने यहाँ तक कह डाला है कि रामचरितमानस के भक्ति-भाव-विषय उद्देश्य में ईसाई-मत की बहुत कुछ छाया है। इस विषय में राय देना कठिन है। समता बहुत कुछ है और इसमें कोई संदेह नहीं कि राम, यीशु, कृष्ण, और बुद्ध के सदृश किसी और आत्मा ने मनुष्य के हृदय में इतनी जगह नहीं पाई है।

बुद्ध के समय से प्रेम और सच्चे गार्हस्थ्य जीवन की शिक्षा भारतवर्ष के सुधारक देते चले आ रहे हैं, परन्तु कितना अधिक

सुधार तुलसीदास ने किया है उतना और किसी से नहीं बन पड़ा। उनकी ललित लेखनी ने बौद्ध भिक्षुओं और पादरियों की आवश्यकता ही न रक्खी। सुनिए, सुनाइए और तदनुसार सुधार कीजिये।

इस हिन्दी-साहित्य की गुदड़ी के लाल को यदि आपने अभी तक नहीं पहचाना तो आशा है इस संक्षिप्त लेख से आपका ध्यान उधर जायगा और किसी विद्वान् के गवेषणापूर्ण ग्रंथ-द्वारा इस अपूर्व रत्न के महत्त्व की अच्छी तरह परख होगी।

---

# ग्रन्थावलोकन और विद्या-प्रेम

( श्री रामचन्द्र वर्मा )

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञान चास्य रोचते ॥ मनु

सदाचारी और सुशील बनने, सब प्रकार के दोषों और पापों से बचने, यथेष्ट यश और कीर्ति प्राप्त करने, प्रत्येक दशामें सन्तुष्ट और प्रसन्न रहने तथा इसी प्रकार की सभी दूसरी अच्छी बातों में हमें जितनी अधिक सहायता ग्रन्थालोकन और विद्या-प्रेम से मिल सकती है, उननी कदाचित् ही किसी और कार्य्य से मिल सकती हो, ग्रन्थावलोकन और विद्याप्रेम का महत्त्व तथा उनसे होनेवाले लाभ इतने सर्वमान्य और इतने अधिक हैं कि उनका उल्लेख करना एक प्रकार निरर्थक ही है और बहुत कुछ दुस्साध्य भी । लेकिन भर्तृहरि ने कहा है—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनंम्,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।

विद्यावन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूजिता न तु धनं विद्याविहीनः पशुः ॥

अतः यदि इस अवसर पर विद्याप्रेम और ग्रन्थावलोकन के सम्बन्ध में कुछ बातें न कही जायेंगी तो यह पुस्तक बिलकुल अधूरी रह जायगी, क्योंकि विद्या ही मानव-जीवन का प्रधान अङ्ग है और बिना उसके मनुष्य पूरा मनुष्य ही नहीं हो सकता।

यदि हम किसी मनुष्य से उसकी विद्या और उसका ज्ञान किसी प्रकार छीन लें और उसे मूर्ख तथा अज्ञान बना सकें तो फिर पशुओं की कोटी में ही वह रक्खा जा सकेगा, मनुष्य कोटि में उसे स्थान न मिलेगा। यदि विद्या न हो तो मनुष्य अपनी इन्द्रियों और वासनाओं का दास हो जाय और उसका कोई पथ-प्रदर्शक या रक्षक न रह जाय। एक विद्वान् का मत है कि विद्याविहीन मनुष्य बालकों की तरह अज्ञान और राक्षसों की तरह पापी होता है। विद्या मनुष्य को बुद्धिमान बनाती है और सन्मार्ग दिखलाती है, तथा संसार की सब बातें समझने की योग्यता प्रदान करती है। श्रेष्ठ जीवन का आरम्भ विद्या से ही होता है। निर्बलों के लिये विद्या शक्ति का काम देती और दरिद्रों के लिये वह धन स्वरूप होती है। विद्या से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है और वह ज्ञान सभी दशाओं में उसके लिए परम उपयोगी और कल्याणकारी होता है। बिना विद्या के मानव-जीवन सार्थक भी नहीं होता, क्योंकि जीवन का सच्चा सुख, वास्तविक आनन्द, विद्या से ही प्राप्त होता है। जीवन

का कर्त्तव्य और उद्देश्य भी विद्या ही बतलाता है और प्रकृति की जटिल समस्यायें भी वही समझाती है।

परन्तु और शक्तियों की तरह विद्या और शिक्षा आदि का भी आजकल बहुत दुरुपयोग हो रहा है और उसमें अनेक दोष आ गये हैं। जो विद्या मनुष्य को नीतिमान् न बना सके उसे वास्तव में विद्या नहीं कहना चाहिए। विद्या अथवा शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिसमें हमारे हृदय में सद्भाव उत्पन्न हो सकें और जो हमें नीति-पथ पर चला सके। यदि इन उद्देश्यों की सिद्धि न हो सके तो यह न समझना चाहिए कि स्वयं विद्या या शिक्षा ही दूषित है, बल्कि यह समझना चाहिए कि उसकी प्रणाली ही दूषित है। यदि हृदय में सद्भाव रखकर शिक्षा दी और ग्रहण की जाय तो उसका परिणाम सदा शुभ ही होगा। प्रसिद्ध विद्वान् बेकन ने एक स्थल पर लिखा है —"मनुष्यों में पढ़ने और ज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति या तो स्वाभाविक कुतूहलसे और सब बातों का मर्म्म जानने की इच्छासे होती है और या मनोविनोद या कीर्ति आदि की इच्छा से। लेकिन मानव-जाति का कल्याण करने के लिये और अपने विवेक का सदुपयोग करने के उद्देश्य से बहुत ही कम लोग विद्या अथवा ज्ञान प्राप्त करते हैं। मानो विद्या ईश्वर की महिमा और संसार के कल्याणकारक साधनों का भण्डार नहीं है, बल्कि अशान्त और अन्वेषक आत्मा के बैठनेका अड्डा है, चंचल मन के चढ़ने और उतरने की सीढ़ी है, अभिमानी मनके आराम करने का बढ़िया कमरा है अथवा लाभ और विक्रय आदि के लिए कोई

दूकान है।" बेकन के इस कथन से यह बात सिद्ध होती है कि साधारणतः आजकल लोग विद्या और ज्ञान आदि का जो उपयोग करते हैं वह कभी यथार्थ और उचित नहीं है, बल्कि उसका यथार्थ उपयोग ईश्वरीय महिमा का ज्ञान प्राप्त करना और संसार का कल्याण करना है।

ज्ञान और विद्या का यथार्थ महत्त्व और उपयोग समझ चुकने के उपरान्त यह जानने की आवश्यकता होगी कि उनकी प्राप्ति के साधन के मार्ग कौन कौन से हैं। प्रत्येक विषय या घटना का भली भाँति निरीक्षण करने से हमारा ज्ञान बढ़ता है। संसार की कोई घटना ऐसी तुच्छ नहीं है जिस से हम कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण न कर सकें। इसी प्रकार कोई मनुष्य भी ऐसा तुच्छ नहीं है जिसके जीवन क्रम से हम कोई बात न सीख सकें। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि हम उससे शिक्षा अथवा भली बात ढूँढ़ निकालें। पर साधारणतः सब लोग ऐसा नहीं कर सकते। इस लिए प्राचीन ज्ञानियों तथा महात्माओं ने एक साधन प्रस्तुत कर दिया है जिस से सब लोग सहज में ज्ञान प्राप्त कर सकें। वह साधन है पुस्तक। समझदार, विद्वान् तथा अनुभवी लोग जिन बातों को अच्छा समझते है उनका संग्रह करके ग्रन्थ तैयार कर देते हैं और उन में अपनी सारी विद्या-बुद्धि भर देते हैं। प्रत्येक देश और जाति का साहित्य ऐसे २ उत्तम ग्रंथ-रत्नों से भरा पड़ा है, जिन में हजारों वर्षों के विद्वानों और महात्माओं के अच्छे अच्छे अनुभव और उपदेश भरे पड़े हैं और जिनमें कुछ का ही भली भाँति

अध्ययन करके और उनके अनुसार आचरण करके मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है।

ये ग्रंन्थ हमारे लिए मित्रों का भी काम देते हैं और गुरुओं का भी। एक अच्छी पुस्तक हमारे लिए एक बहुत अच्छे मित्र से भी बढ़ कर काम देती है मित्र की अपेक्षा उसमें बड़ी विशेषता यह है कि वह कभी हमसे अप्रसन्न या असन्तुष्ट नहीं होती और न कभी किसी से हमारी निन्दा आदि करती है। मित्र के स्वभाव में अनेक प्रकार के परिवर्त्तनों को सम्भावना होती है, पर पुस्तक सदा ज्यों की त्यों रहती है। यदि हम पर कभी कोई विपत्ति आ पड़े तो हमारे बहुत से मित्र सम्भवतः हमारा साथ छोड़ देंगे, पर पुस्तक हमारा साथ कभी न छोड़ेगी। सदा और सब दशाओं में वह हमें समान रूप से उपदेश देगी, हमें कर्तव्य बतलायेगी और हमारा मनोविनोद करेगी। मित्र हमें विपत्ति में डालकर अनुभव करा देंगे और पुस्तक हमें विपत्ति से बचाकर अनुभवी बना देगी। मित्र हमें कुमार्ग में भी ले जा सकते हैं और हमारे आचरण तथा विचारों को बिगाड़ भी सकते हैं, पर पुस्तकें सदा हमें सन्मार्ग ही दिखलावेंगी और हमारे आचरण तथा विचारों को सुधारेंगी। अच्छे ग्रंथों में हमें सदा अच्छे ही विचार मिलेंगे जो सदा हमारी आत्मा को शुद्ध बनावेंगे और हमें पापों से बचायेंगे। प्रायः अच्छे २ कार्य्य करने के लिए भी वे हमें प्रेरित करेंगे। यदि सौभाग्यवश हमारा कोई अच्छा मित्र मर गया तो उसके वियोग के कारण हमें बहुत अधिक दुःखी होना पड़ेगा और हम सदा के लिए उसके सदुपदेश और

परामर्शों से वंचित हो जायँगे। पर ग्रन्थों में यह बात भी नहीं है। साधारणतः लोगोंका विश्वास है कि जो मनुष्य वहुत अच्छे और सदाचारी होते हैं उनकी मृत्यु भी बहुत शीघ्र होती है। पर ग्रन्थों की बात इससे उलटो ही होती है। जो ग्रन्थ जितना ही अच्छा होता है, उसकी आयु भी उतनी ही अधिक होती है। यहाँ तक कि वहुत अच्छे अच्छे ग्रन्थ प्रायः अमर होते हैं और उनमें के उत्तम विचारों तथा उपदेशों का कभी नाश नहीं होता। साहित्य के सम्बन्ध में यह नियम है कि ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों रद्दी और निरर्थक पुस्तकें नष्ट होती जाती हैं और अच्छी पुस्तकें बच रहती हैं। उन अच्छी पुस्तकों के विचार सदा ज्यों के त्यों बने रहते हैं, समय उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

ग्रन्थ सदा हमारे सामने उत्तम विचार और उत्तम आदर्श उपस्थित करते हैं। अच्छे ग्रन्थों के अध्ययन से असंख्य लोगों का अनन्त उपकार हुआ है। रामायण का पाठ करके न जाने कितने लोगोंने रामचन्द्र की तरह सदाचारी और धर्मपरायण बनने का प्रयत्न किया होगा और रावण की तरह कुमार्गी होने से न जाने कितने लोग बच गये होंगे। गीता के पाठ अब तक लाखों करोड़ों मनुष्यों को कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग में लगाया होगा। अब तक करोड़ों मनुष्यों ने महाभारतका पाठ किया होगा और उनमें से अधिकांश में अच्छी तरह समझ लिया होगा कि दुष्ट चाहे कितने ही बलवान् क्यों न हों, पर अन्त में विजय सदा पूर्ण सदाचारी और सत्यनिष्ठ मनुष्य की ही होती है। इसी प्रकार अन्यान्य उत्तम

ग्रन्थों के विषय में भी समझ लीजिए।

अच्छे ग्रन्थ हमें अच्छी बातें भी बतलाते हैं और हमें अच्छे मनुष्यों के दर्शन भी कराते हैं। संसार में ग्रन्थ ही एक ऐसा साधन है जो हमें अबतक के सभी महापुरुषों के समीप पहुँचा सकता है। वे हमें प्राचीन आर्य्य महर्षियों के सद्वचन सुनाने और उनके सत्कार्यों का ज्ञान प्राप्त कराते हैं। त्रिपिटक हमें महात्मा बुद्धदेव के सदुपदेश सुनाते हैं, बाईबिल हमें महात्मा ईसा के उपदेश सुनाती है और कुरान में हमें मुहम्मद के वचन मिलते हैं। ग्रन्थ मानों हमें अपने रचयिता महात्माओं के सामने उपस्थित कर देते हैं और उनके वाक्य हमें तद्वत् सुनाते हैं। ग्रन्थों के द्वारा हम उनके विचार और अनुभव को सहज में अपना कर सकते हैं। बहुत प्राचीन काल से लेकर अब तक की सभी विद्या-बुद्धि और सभी अनुभव एक मात्र ग्रन्थों में ही एकत्र हैं। एक विद्वान् का मत है— "व्यक्ति के लिए जो काम उसकी स्मरणशक्ति देती है, मानवजाति के लिए वही काम पुस्तकें देती हैं। उनमें हमारी जातिका प्राचीन इतिहास भरा होता है हमारे आविष्कारों का उल्लेख होता है और युगों के अनुभव और ज्ञान का संग्रह होता है। वे हमारे सामने प्रकृतिके सौन्दर्यका चित्र खींचकर रख देती हैं, दुःख और कष्ट के समय हमें सान्त्वना देती हैं, हमारे खेद दूर करके हमें प्रसन्न करती हैं और हमारा हृदय ऐसे सुन्दर विचारों से भर देती हैं जो हमें अपनी अवस्था से ऊपर उठाकर बहुत उन्नत कर देते हैं।"

एक दूसरे अंगरेज़ी विद्वान् पादरी रिचार्ड डी बरी का मत

है --'ग्रन्थ हमारे ऐसे शिक्षक हैं जो हमें बिना मारे पीटे, बिना बिगड़े या क्रोध किये और वस्त्र या धन लिये हमें शिक्षा देते हैं। आप जब चाहे तब उनके पास जायँ वे कभी सोते हुए न मिलेंगे। यदि आप उनसे कोई बात पूछेंगे तो वे कभी कुछ न छिपायेंगे। यदि आप कोई भूल करेंगे तो वे कभी कुड़बुड़ाएंगे भी नहीं। यदि आप कुछ न जानते होंगे तो वे कभी आप पर न हँसेंगे। अतः पुस्तकों से बढ़कर बहुमूल्य पदार्थ संसार में और कोई है ही नहीं और संसार का कोई वांछित पदार्थ उसका मुकाबला नहीं कर सकता। जो मनुष्य अपने आपको सत्य, आनन्द, ज्ञान-विज्ञान और यहाँ तक कि धर्म्मका कट्टर अनुयायी और प्रेमी समझता हो उसे पुस्तकों का प्रेमी अवश्य होना चाहिए।" प्रसिद्ध अंगरेज़ विद्वान् मेकाले बहुत बड़ा अमीर था और समाज में उसकी बहुत प्रतिष्ठा थी। उस ने अपने आत्म-चरित में लिखा है कि उसे सबसे अधिक आनन्द पुस्तकावलोकन में ही मिलता था। एक पत्र में उसने एक बार लिखा था 'यदि कोई मुझे बहुत बड़ा बादशाह बनाकर मुझे रहने के लिए अच्छे अच्छे महल और बाग दे, सुन्दर भोजनों, अच्छे वस्त्रों और बहुत से नौकरों चाकरों की व्यवस्थाकर दे, लेकिन यह कहदे कि तुम किताबें न पढ़ा करो तो मैं कभी बादशाह बनना स्वीकार न करूँगा। मैं बहुत सी किताबें लेकर गरीबोंकी तरह झोंपड़ी में रहना पसन्द करता हूँ, पर ऐसा बादशाह बनना पसन्द नहीं करता जिसे पुस्तकों से प्रेम न हो।"

जिस प्रकार पढ़ने वालों के लिए ग्रन्थ मित्र और शिक्षक का

काम देते हैं उसी प्रकार लिखनेवालों के लिए वे सन्तान का काम देते हैं और उनकी किर्ति सदा अजर तथा अमर रखते हैं। जिस प्रकार पढ़नेवालों के लिये ग्रन्थों मित्रों और शिक्षकों की अपेक्षा अनेक विशेषतायें हैं, उसी प्रकार लिखने वालों के लिए ग्रन्थों में सन्तान की अपेक्षा कहीं अधिक विशेषतायें है। यदि हम अपनी सन्तान की सुशिक्षा के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करें तो भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि उसके द्वारा कभी कोई काम ऐसा न होगा जिससे हमारी कीर्ति में बट्टा लगे। पर ग्रन्थों में यह बात नहीं है। ग्रन्थ को अच्छा बनाने में हम जितना अधिक प्रयत्न करेंगे उसके द्वारा हमारी कीर्ति भी उतनी ही निश्चयात्मक होगी। सन्तान से नाम दो ही चार पुस्त चलता है पर ग्रन्थ हमारे नाम को सैकड़ों और हजारों वर्षों तक बनाये रख सकते हैं। व्यास, शंकराचार्य्य, वाल्मीकि, गौतम, जैमिनि, पाणिनि और कालिदास आदि सत्पुरुषों की कीर्ति उनके ग्रन्थों के कारण ही संसार में अमर हुई है, सन्तान के कारण नहीं। और अब संसार से उनका नाम मिटने की कोई संभावना भी नहीं है। महाभारत या रामायणका जिक्र छिड़ते ही व्यास और वाल्मीकि का स्मरण आ जाता है। न्याय और मीमांसा आदि का प्रसंग छिड़ते ही गौतम, जैमिनि और शंकराचार्य्य का ध्यान आ जाता है। पाणिनि के विषय में तो यह जान पड़ता है कि वे आज भी समस्त संसार को 'वृद्धिरादैच्' आदि सूत्रों का पाठ सुना रहे हैं। शकुन्तला, रघुवंश और मेघदूत आदि काव्यों ने अभी तक कालिदास का नाम विस्मृत नहीं होने दिया। मराठी साहित्य में ज्ञानेश्वर, तुकाराम, राम-

दास, वामन, मोरोपंत और श्रीधर आदि ग्रंथकारों ने, गुजराती में नरसीमेहता और प्रेमानन्द ने और हिन्दी में सूर तथा तुलसी आदि ने जैसी कीर्ति अपनी पुस्तकों के कारण पाई है, कदाचित् अच्छी सन्तान के कारण उसका शतांश यश भी उन्हें न मिलता।

जिन पुस्तकों का इतना महत्त्व है उनके पढ़ने के सम्बन्ध में भी कुछ बातों का जानना आवश्यक है। सब से पहली बात तो यह है कि मनुष्य जो कुछ पढ़े वह खूब सोच विचारकर और शांत-चित्त होकर पढ़े। एक विद्वान् का मत है कि अध्ययन का कार्य्य मनो-विनोद के रूप में नहीं बल्कि कर्त्तव्य के रूप में होना चाहिये। जिस प्रकार हम अपने कर्त्तव्यों का पालन दत्तचित्त होकर करते हैं ठीक उसी प्रकार खूब जी लगाकर हमें पढ़ना भी चाहिए। केवल मनो-विनोद के लिए रद्दी और रुचि बिगाड़नेवाले उपन्यासों और क़िस्से कहानियों की पुस्तकें पढ़ने से न पढ़ना ही अच्छा है। सदा उत्त-मोत्तम विषयों के ग्रंथ— जीवन-चरित; इतिहास, निबन्ध, और नीति तथा विज्ञान के भिन्न भिन्न अङ्गों के सम्बन्ध के ग्रंथ पढ़ने चाहिएँ और उनके अच्छे विचारों पर मनन करना चाहिए। हम कुछ पढ़ें उसका सर्वोत्तम अंश हमें सदा स्मरण रखना चाहिए जिस में समय पड़ने पर हम उससे काम ले सकें। अच्छे २ उपदेशों का स्मरण रखकर हम आपत्ति या दुःख के समय स्वयं अपने आपको तथा दूसरों को धैर्य्य तथा सान्त्वना दे सकते हैं। ऐसे वचनों की सहायता से हम समय पड़ने पर स्वयं भी कुमार्ग से बच सकते हैं और दूसरों को भी बचा सकते हैं। विज्ञान आदि के सम्बन्ध की

अच्छी अच्छी बातें स्मरण रखकर समय पर स्वयं बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है और दूसरों का भी उपकार किया जा सकता है। सन्ध्या समय चार आदमियों में बैठकर उन स्मरण की हुई बातों के द्वारा हम पवित्र मनोविनोद भी कर सकते हैं। ग्रंथों में दी हुई बातों को ध्यान में रखने का अभ्यास करने से हम अपनी स्मरणशक्ति भी बढ़ा सकते हैं। इसके अतिरिक्त स्मरण रक्खी हुई बातों से और भी अनेक प्रकार के लाभ उठाये जा सकते हैं।

यदि हम बहुत अधिक स्मरण न रख सकें तो भी केवल पढ़ने से ही हमारा बहुत कुछ लाभ हो सकता है। जिन लोगों को किसी प्रकार का दुर्व्यसन लग गया हो उन्हें यदि किसी प्रकार पढ़ने का चसका लगा दिया जाय तो वे उस दुर्व्यसन से बच जाएँगे और कुमार्ग से हटकर सुमार्ग में लग जाएँगे। यदि वे कोई नीति-विरुद्ध आचरण करते होंगे तो बहुत सम्भव है कि उसे भी छोड़ देंगे। शारीरिक परिश्रम करने वाले यदि फुरसत के समय पुस्तकें पढ़ने लगें तो उनकी बहुत कुछ थकावट दूर हो जायगी। यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि यदि शारीरिक परिश्रम करने के कारण मनुष्य बहुत अधिक थक गया हो तो थोड़ी देर तक ज़रा ज़ोर ज़ोर से कोई पुस्तक पढ़ें, उसकी थकावट दूर हो जायगी। दिन रात बही खाता लेकर बैठे रहनेवाले और व्याज फैलाने वाले महाजन और मुनीम आदि यदि सन्ध्या के समय रामायण या महाभारत का पाठ करने लग जाएँ, तो उनका दिमाग़ बहुत ही थोड़ी देर में ठिकाने आ सकता है।

जिस प्रकार हमारे शरीर को भोजन और व्यायाम की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार हमारे मस्तिष्क को भी है। अध्ययन हमारे मस्तिष्क का भोजन है और मनन या विचार उसका व्यायाम। जिस प्रकार हम अपने शरीर को ठीक दशा में रखने के लिए नियमित रूप से भोजन और व्यायाम करते हैं उसी प्रकार अपने मस्तिष्क को भी ठीक अवस्था में रखने के लिये हमें नियमितरूप से अध्ययन और मनन करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपने सुभीते के अनुसार नित्य पढ़ने के लिए कुछ समय नियत कर लेना चाहिए। पढ़ने के लिए या तो प्रातःकाल का समय और या रात को सोने से पहले का समय बहुत अच्छा होता है। इसमें प्रातःकाल का समय सबसे अच्छा है, क्योंकि उस समय चित्त खूब शान्त रहता है। उस समय हम जो कुछ पढ़ेंगे उस पर विचार भी अच्छी तरह कर सकेंगे। रात को सोने से पहले यदि कुछ पढ़ा जाय तो शरीर की थकावट भी उतर जाती है और रात को नींद भी अच्छी तरह आती है। तो भी पढ़ने के लिए हम जो समय नियत कर लें उस समय हम नियमित रूप से अवश्य पढ़ें। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो कुछ हम पढ़ें वह खूब सोच समझकर पढ़ें और लेखक के विचारों को अच्छी तरह समझते चलें। पढ़ने के समय हरएक बात पर अच्छी तरह विचार करना और मननपूर्वक उसकी उपयोगिता का विचार कर लेना बहुत ही लाभदायक और आवश्यक है। सरसरी तौरपर सौ दो सौ पुस्तकें पढ़ जानेकी अपेक्षा इस प्रकार विचारपूर्वक पढ़ी हुई दो चार पुस्तकें ही कहीं अधिक और अच्छा काम देती हैं। आजकल आपको अनेक युवक ऐसे

मिलेंगे जो हरएक पुस्तक का नाम सुनकर कह बैठेंगे कि हाँ हमने वह पुस्तक पढ़ी है, और वास्तव में उन्होंने उसे पढ़ा भी अवश्य होगा। पर यदि कोई उनसे पूछे कि उस पुस्तक में क्या है तो वे चट कह उठेंगे कि यह तो हमें स्मरण नहीं । उनमें से बहुत से तो ऐसे धृष्ट भी निकलेंगे जो यहाँ तक कहने में संकोच न करेंगे कि हमने हजारों पुस्तकें पढ़ी हैं, सबके विषय कहाँ तक याद रक्खें? कोई पूछे ऐसी पढ़ाई से लाभ ही क्या? ऐसा पढ़ना और न पढ़ना दोनों बराबर हैं। जिस प्रकार किसी देश की वास्तविक दशा का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करने, वहाँ की प्राकृतिक शोभायें आदि देखने और वहाँ की रीति-नीति आदि से भली भाँति परिचित होने के लिए केवल डाक-गाड़ी पर सवार होकर उस देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला जाना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि सब स्थानों पर दो दो चार दिन ठहरने खूब घूमने फिरने वहाँ के निवासियों से मिलने जुलने तथा सब बातों का भली भाँति निरीक्षण करने की आवश्यकता है, उसी प्रकार किसी पुस्तक की अच्छी बातों की जानकारी प्राप्त करने के लिए सरसरी तौर पर आदि से अन्त तक उसे एक बार पढ़ जाना ही आवश्यक नहीं है; बल्कि उसके प्रत्येक वाक्य पर भली भाँति विचार करना बहुत ही आवश्यक है। ज्ञान की वृद्धि इसी प्रकार हो सकती है—पढ़ने का उद्देश्य इसी प्रकार सिद्ध हो सकता है। प्राचीन काल में छापे की कला का आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय न तो पुस्तकों की इतनी अधिक भरमार ही थी और न पुस्तकें आजकल की तरह सहज में मिल ही सकती थीं। उस समय लोग पुस्तकों की

कमी के कारण ही जो पुस्तकें पाते थे, वहुत अच्छी तरह उनका अध्ययन करते थे, और इसी लिये वे जिस विषयका अध्ययन करते थे उसके प्रायः पूर्ण पंडित होते थे। आजकल का पाण्डित्य तो केवल पुस्तकालयों का है। जिसके पास जितना बड़ा पुस्तकालय है वह उतना ही बड़ा पंडित समझा जाता है। पर वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए। आजकल प्रत्येक विषय पर बहुत सी अच्छी २ पुस्तकें और वह भी थोड़े दाम पर मिलती हैं। ऐसी दशा में हमें उनकी सुलभता का सदुपयोग करना चाहिये, न कि दुरुपयोग। अच्छी पुस्तकों का संग्रह करके खूब ध्यान से उनका अध्ययन करना चाहिये और उनके विषय को भली भाँति हृदयङ्गम कर लेना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करने का उचित उपाय यही है। नहीं तो अध्ययन का उद्देश्य ही सिद्ध न होगा।

यों तो धर्म्म, नीति और विज्ञान आदि सभी विषयों की पुस्तकें मनुष्य के लिये बहुत उपयोगी होती हैं और उत्तम श्रेणी के उपन्यासों, नाटकों और काव्यों आदि से मनुष्यों को शिक्षा मिलती है, पर कुछ विद्वानों का मत है कि सबसे अधिक उपादेय महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र होते हैं, क्योंकि मनुष्य के सदाचारी बनने में सबसे अधिक सहायता उन्हीं से मिलती है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि ध्यानपूर्वक मनुष्य किसी बड़े आदमी की जीवनी पढ़े और उस के कार्य्यों, व्यवहारों तथा भोगे हुए दुःखों आदि पर भली भाँति विचार करे तो उसका बहुत कुछ लाभ हो सकता है। इसी लिए बहुत प्राचीन काल से बराबर सब देशों और सब साहित्यों में अच्छे अच्छे

जीवनचरित लिखने की प्रथा है। भिन्न भिन्न देशों में और साहित्यों में उसके लिखने की प्रणाली भले ही एक दूसरे से भिन्न हो, पर किसी न किसी रूप में सब देश और सब साहित्यों में उसका अस्तित्व अवश्य है। नाटकों और उपन्यासों आदि की गणना भी जीवन-चरित्र में ही होनी चाहिए, क्योंकि उनका उद्देश्य भी मनुष्यों के चरित्र ही दिखलाना है। लेकिन उनका अधिकांश कल्पित होता है, इसलिये सच्ची जीवनियों के सामने उनका उतना महत्त्व या मूल्य नहीं है। इतिहास की गणना भी एक प्रकार से जीवन-चरित्र में ही होनी चाहिये, क्योंकि वह भी बहुत से लोगों को जीवन-चरित्रों का समूह ही होता है। इसके अतिरिक्त इतिहासों में यह भी दिखलाया जाता है कि महान् पुरुष के कार्यों और विचारों का उनके देश या राष्ट्र पर कैसा प्रभाव पड़ा। जीवनचरित्र पढ़ने से यह मालूम होता है कि संसार में भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मनुष्य को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए और इतिहास पढ़ने से यह मालूम होता है कि देश या राष्ट्र के लिये जब कोई विकट प्रसंग आ पड़े तब क्या करना चाहिए। महाराणा प्रताप, महाराज शिवाजी और गुरु गोविन्दसिह के जीवन-चरित्रों और उनके समय के इतिहासों को राजनीति का बड़ा भारी शिक्षक समझना चाहिये। उनके देखने से पता लगता है कि जिस समय देश पर विपत्ति आवे उस समय उसके निवारण के कौन कौन से और कैसे कैसे उपाय करने चाहिए। पृथ्वीराज, संभाजी, बाजीराव, और वाजिदअली शाह आदि की जीवनियाँ और उनके समय के इतिहास देखने से यह शिक्षा मिलती है कि

जो मनुष्य अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता और विषय-वासनाओं में फँसा रहता है उसकी सम्पत्ति चाहे कितनी ही विपुल और प्रतिष्ठा चाहे कितनी अधिक क्यों न हो, बहुत ही थोड़े समय में और अवश्य नष्ट हो जाती है। साथ ही यह भी शिक्षा मिलती है कि जो लोग ऐसे अवसरों पर परिश्रम और प्रयत्न करते हैं वे अपना वहुत कुछ लाभ भी कर लेते हैं। आजकल के यूरोपीय सभ्य देशों का इतिहास मानों अन्य देशों से कहता है कि कीर्ति, वैभव और अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को विद्या और ज्ञान सम्पादन करने की आवश्यकता है।

ग्रंथावलोकन और विशेषतः इतिहास के अध्ययन में हमें यूरोपियनों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। उनका अधिकाँश वैभव और कीर्ति उनके विद्या-प्रेम के कारण ही है और अपना काम निकालने में इसी गुणसे उन्हें सबसे अधिक सहायता मिलती है। स्वार्थ-साधन में यूरोपियन जैसे दक्ष होते हैं वैसे और लोग नहीं होते। साथ ही वे परिश्रम भी खूब करते हैं। कार्य्य कितना ही कठिन और दुःसाध्य क्यों न हो, पर जब तक वे उसे पूरा नहीं कर लेते तबतक साँस नहीं लेते। अच्छी और बुरी सभी बातों का वे पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरे देशों पर अधिकार करके वे ऐशोआराम में नहीं फँस जाते; बल्कि विजित देशों के निवासियों के धर्म, व्यवहार, नीति, आचार और यहाँ तक कि स्वभाव आदि का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करने लगते हैं, और यही ज्ञान उनके अधिकार को स्थायी बनाने में बहुत कुछ सहायक होता है। ग्रीक और रोमन लोगों के

प्राचीन इतिहास पढ़कर वे इस बात का भी पता लगाते हैं कि किस देश से उनका अधिकार क्यों और कैसे उठा, और जहाँ तक हो सकता है वे उन की भूलें ढूँढ़कर भविष्य में उनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। यूरोपियन लोग तो विजित देश के लोगों का इतिहास जानने के लिए इतना श्रम करते हैं और एक हम एशियावासी लोग हैं जो अपने विजेताओं का भी इतिहास जानने की आवश्यकता नहीं समझते। जिस प्रकार यूरोपियनों ने यहाँ वालों के आचार-विचार और रहन-सहन आदि का ज्ञान प्राप्त करके अपना काम निकाला है, यदि उसी प्रकार हम लोग भी उनके आचार-विचार और इतिहास आदि परिचय प्राप्त करते तो हमारा अनन्त उपकार होता। अन्य देशों में जहाँ कोई सुधार होता है अथवा कोई अच्छी बात निकलती है, वे तुरंत अपने देश में उसकी परीक्षा और प्रचार आरम्भ कर देते हैं। उनमें से कोई कभी किसी के पीछे रहना पसन्द नहीं करता। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो प्रतिद्वन्द्विता के कारण अच्छी बातों की बहुत शीघ्र और यथेष्ट वृद्धि होती है और दूसरे कोई किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता। जो देश उन्नति के मार्ग में पीछे रह जाते हैं, उनसे वे लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। जो चीज़ अपनी ही हो उसके बचाए रखने के लिए भी शक्ति की आवश्यकता होती है, और आजकल यह शक्ति विना विद्या और कला आदि के प्राप्त नहीं हो सकती। यूरोप में ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग जितना सुलभ है उतना सुगम हमारे देश में नहीं है, पर हमें प्रयत्न करके उसे सुगम बना लेना चाहिए।

# सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्तव्य

( आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी )

इस देश में सम्पादन-कार्य की शिक्षा का कुछ भी प्रबन्ध नहीं। कुछ लोग अच्छी शिक्षा पाकर सम्पादक बनते हैं, कुछ लोग यथेष्ट शिक्षा प्राप्त करके भी पहले किसी सुयोग्य सम्पादक की अधीनता में काम करते हैं, तब कोई अखबार या सामयिक पुस्तक निकालते हैं, कुछ लोग न अच्छी तरह शिक्षा की प्राप्ति करते हैं न सम्पादन-कार्य्य ही सीखते हैं, और सम्पादक बन बैठते हैं। हमारे सदृश हिन्दी के अनेक सम्पादक प्रायः इसी तीसरी कक्षा के हैं। इसी से कोई पत्र या पुस्तक निकालने के वर्षों पहले, हिन्दी-सेवा की दुहाई देते हुए वे अपने अजन्मा पत्र या पुस्तक का विज्ञापन मुफ्त ही छापते हैं। उसमें वे बड़ी बड़ी बातें कहते हैं। राम-राम करके जब उनके पत्र का पहला अंक निकलता है, तब उसके पहले ही पृष्ठ पर किसी न किसी त्रुटि के लिए क्षमा-प्रार्थना के

दर्शन होते हैं। ऐसे पत्र शीघ्र ही बन्द हो जाते हैं। यदि कुछ दिन चलते भी हैं तो जीते ही मुर्दे बन कर अपने दिन काटते हैं। तथापि परिश्रमी, सचेष्ट और ज्ञान-पिपासु सम्पादक, विशेष शिक्षित और अनुभवशील न होने पर भी अपनी और अपने पत्र की बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं। सम्पादक को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए—इतिहास, सम्पत्ति-शास्त्र राष्ट्र विज्ञान, समाज तत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान, (Luris prudence) अपराध-तत्त्व (Criminology), अनेक लौकिक और वैषयिक व्यापारों की संख्या-सम्बन्धी शास्त्र (Statistics) पौर और जानपदवर्ग के अधिकार और कर्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली शान्ति-रक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा-पद्धति और कृषि-वाणिज्य आदि का वृत्तान्त। देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जासकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्रसम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक विषयों पर सम्पादकों को लेख लिखने चाहिएँ। सम्पादक होने ही से कोई सर्वज्ञ-मय विषयों का ज्ञाता-नहीं हो सकता। सब विषय तो दूर रहे, दो-चार विषयों का भी यथेष्ट ज्ञानप्राप्त करना दुःसाध्य बात है। अतएव यदि एक एक सम्पादक एक ही विषय का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त करके उसी पर लेख लिखे तो बहुत लाभ हो। इस समय दशा यह है—

सम्पादक रोज ही पाठकों से कहा करते हैं, यह न करो, वह न करो, ऐसा न करो, वैसा न करो। परन्तु यदि पाठक उनसे पूछ बैठें कि अच्छा आप ही बताइए कि अमुक काम किस तरह किया जाए तो वे बेचारे विपत्ति में पड़ जाएँ। अतएव सम्पादन कार्य्य की वर्तमान प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता है।

समालोचना का काम भी प्रायः सम्पादक ही करते हैं। समालोचना से मतलब पुस्तकों की समालोचना से है। कभी कभी और लोग भी आलोचना करते हैं। यह काम बड़ा कठिन है। परन्तु समालोचक अपने को प्रायः सर्वज्ञ समझते हैं और हर विषय की पुस्तक की समालोचना करने से ज़रा भी नहीं हिचकते। लेखक की अपेक्षा समालोचक यदि अधिक विद्वान् है तो और भी अच्छी बात है। तथापि यदि वह समालोच्य पुस्तक के विषय का यथेष्ट ज्ञान रखता है, तो भी वह समालोचना का काम कर सकता है। ऐसी योग्यता न रखनेवाले भी कभी कभी अच्छी समालोचना कर सकते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी को किसी अच्छे काव्य की आलोचना लिखनी है। वह स्वयं तो कवि नहीं, पर अन्य अनेक काव्यों का रसास्वादन उसने किया है तथा श्रेष्ठ समालोचकों की समालोचनायें उसने पढ़ी हैं। इस दशा में यदि वह उस काव्य की विचार-पूर्वक आलोचना करना चाहे तो कर सकता है। मित्रता के कारण किसी की पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या, द्वेष अथवा शत्रु-भाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना

उससे भी बुरा काम है। एक प्रकार की और भी समालोचना होती हैं। उसे पाण्डित्य-सूचक या पाण्डिताई दिखाने वाली समालोचना कह सकते हैं। समालोचक ऐसी समालोचना में विशेष कर यही दिखाता है कि लेखक ने व्याकरण की भूलें की हैं, अलङ्कार-शास्त्र की भूलें की हैं, छन्दःशास्त्र की भूलें की हैं। मुहावरे की भूलें की हैं। वह यह नहीं देखता कि इन बातों के सिवा और भी कोई बात है या नहीं जिसकी समालोचना होनी चाहिए। छन्द, अलङ्कार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुईं। इन्हीं पर ज़ोर देना अविवेकता-प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं। व्याकरण आदि की भूलें होती किससे नहीं? अँगरेज़ी, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत आदि भाषाओं के बड़े बड़े विद्वानों ने क्या इस तरह की भूलें नहीं की? पर इससे क्या उनके ग्रन्थों की प्रतिष्ठा कुछ कम हो गई है? किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है किस ढङ्ग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी ही बात को नए ढङ्ग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय हैं। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए। लेखक ने अपने लेख या अपनी पुस्तक को जिस उद्देश्य से लिखा है, वह यदि सिद्ध होता है तो समझना चाहिए कि उसने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया। केवल अवान्तर बातों की समालोचना करना और बाल की खाल निकालना समालोचना

नहीं कही जा सकती।

(लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए।) उन्हें वागाडम्बर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गम्भीर और बड़ी ही, अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्चश्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें योरप तथा अमरीका के अनेक देशों, पण्डित और लेखकों के नाम हों, जिस में अंग्रेज़ी नाम, शब्द और वाक्य अंग्रेज़ी ही अक्षरों में लिखे हों— उस रचना को लोग बहुधा पाण्डित्यपूर्ण समझते हैं। परन्तु यह गुण नहीं, दोष है। हिन्दी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिन्दी जानने वाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँग्रेज़ी शब्दों में लदी हुई भाषा से पाण्डित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनन्द-दान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि एक मात्र पाण्डित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना-कार का उद्योग सफल होगा— तभी उससे पढ़नेवालों के ज्ञान और आनन्द की वृद्धि होगी।

---

# अनुकरण

( बाबू बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय )

जगदीश्वर की कृपा से उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में नव्य बाबू नामधारी एक अद्‌भुत जीव जगत में दिखाई पड़े हैं। पशुतत्त्व के ज्ञाताओं ने परीक्षा द्वारा निश्चय किया है कि बाहर से तो इनमें मनुष्य के लक्षण मिलते हैं—इनके हाथों और पैरों में पाँच पाँच अंगुलियाँ हैं, पूँछ नहीं है, और इनकी हड्डियाँ तथा मस्तक 'बाइमेन' जाति के सदृश जान पड़ते हैं। परन्तु इनके अन्तःस्वभाव के सम्बन्ध में अभी तक वैसा निश्चय नहीं हो सका है। किसी किसी विद्वान् का मत है कि ये भीतर से भी मनुष्य हैं। कोई कोई कहते हैं कि ये बाहर से मनुष्य किन्तु भीतर से पशु हैं। इसी तत्त्व की मीमांसा के लिए श्रीयुत राजनारायण बसु ने कुछ समय पहले एक व्याख्यान दिया था। उक्त व्याख्यान अब मुद्रित भी हो चुका है। उसमें उन्होंने पशु पक्ष का समर्थन किया है।

तो हम लोग किस मत के मानने वाले हैं? हम भी बाबुओं को पशुश्रेणी-भुक्त माननेवाले हैं। हमने अंगरेज़ी समाचारपत्रों से इस

पशुतत्त्व का अभ्यास किया है। किसी ताम्रश्मश्रु ऋषि का मत यह है कि जिस तरह विधाता ने तीनों लोकों की सुन्दरियों के सौन्दर्य का तिल तिल संग्रह करके तिलोत्तमा का सृजन किया था, उसी प्रकार पशुवृत्तियों का तिल तिल संग्रह करके यह अपूर्व नव्य बाबू-चरित्र सृजन किया गया है। विधाता ने शृगालों से शठता(धूर्तता), श्वानों से खुशामद और भिक्षानुराग, भेड़ों से भीरुता, वानरों से अनुकरण पटुता और गर्दभों से गर्जन—इन सब गुणों का संग्रह करके दिङ्-मण्डल को उज्ज्वल करने, भारतवर्ष के एक मात्र भरोसे, और भट्ट मोक्ष-मूलर के आदर के स्थान, नव्य बाबुओं को समाजाकाश में उदित किया है। जैसे सुन्दरियों में तिलोत्तमा, ग्रंथों में रिचर्डसन्स सिलेक्शन्स, पोशाकों में फकीर की गुदड़ी और भोजनों में खिचड़ी है, वैसे ही मनुष्यों में नव्य बाबू लोग हैं। जिस तरह क्षीरसागर के मन्थन करने से जगत्प्रकाशक चन्द्र निकला था, उसी तरह पशु-चरित्र-सागर के मन्थन से ये अनिन्दनीय बाबू-चन्द्रमा निकलकर भारतवर्ष को उजेला दे रहे हैं राजनारायण बाबू जैसे अमृतलुब्ध लोगों को हम अच्छा नहीं समझते, जो राहु बनकर इन कलङ्कशून्य चन्द्रबिम्ब को ग्रसना चाहते हैं। विशेष कर हम राजनारायणबसु महाशय से पूछते हैं कि जब आपने अपनी एक पुस्तक में गोहत्या का निषेध किया है तब आप क्यों अपनी वक्तृता में बाबू लोगों पर खड्गहस्त हुए हैं? बाबू लोग गऊ बैलों से किस बात में कम या निकृष्ट हैं? जैसे गऊ बैल उपकार करते हैं वैसे ही ये भी करते हैं। ये लोग अखबार रूपी सुस्वादु दूध मटकें भर भर कर देते हैं, चाकरी का हल कन्धे पर

लाद कर जीवन के खेत को जोतकर अंगरेज़ किसानों का अन्न-धन पैदा करने में सहायता पहुँचाते हैं, विद्या के बोरे कालेजों से पीठ पर लाद लाद कर छापेखाने में आकर डाल देते हैं, समाज-संस्कार की गाड़ी पर विलायती माल लाद कर रस के बाजार में पहुँचाते हैं और देश-हित के कोल्हू में स्वार्थ-सरसों पेर कर यश-रूपी तेल निकालते हैं। भला ऐसे जीवों पर कोई खड्गहस्त होता है! हमारे देश के इन बाबुओं की लोग जितनी निन्दा करते हैं वास्तव में उतने निन्दनीय वे नहीं हैं। बहुत से स्वदेशवत्सल लोग जिस अभिप्राय से बाबुओं की निन्दा करते हैं, राजनारायण जी ने भी उसी अभिप्राय से बाबुओं के हित के लिए उनकी निन्दा की है। अपने 'तब और अब" शीर्षक लेख में निरपेक्ष भाव से 'भूत' और 'वर्तमान' की आलोचना करना उनका उद्देश्य नहीं। 'वर्तमान' के दोष दिखलाना ही उनका उद्देश्य है। उन्होंने 'वर्तमान' के गुणों पर दृष्टि नहीं डाली और दृष्टि डालना भी व्यर्थ था; क्योंकि वर्तमान बाबुओं को अपने गुणों के विषय में तो कुछ भी सन्देह नहीं है—वे केवल अपने दोषों को ही नहीं देख पाते।

यह कहना अनुचित नहीं कि इस नई पौध में कई दोष हैं। उन सब में 'अनुकरण का अनुराग' एक ऐसा दोष है जिसपर सबका कटाक्ष है। इसके लिए क्या अंगरेज़ और क्या हिन्दुस्तानी, सभी नित्य इस पौध का तिरस्कार करते हैं। इस विषय में राजनारायणजी ने जो कुछ कहा है उसे उद्धृत करने की कोई आवश्यकता नहीं

दीख पड़ती। ये बातें आजकल हर एक पुराने ढंग के आदमी के मुख से सुन पड़ती हैं।

हम उन बातों को स्वीकार करते हैं, और यह भी मानते हैं कि राजनारायणजी ने जो कहा है उसमें बहुत कुछ सत्य है, किन्तु अनुकरण के बारे में हम उनसे सहमत नहीं। अनुकरण के संबंध में लोगों की भ्रान्त धारणायें हो गई हैं।

क्या अनुकरण करना ही दोष है ? यह कभी हो नहीं सकता। अनुकरण के सिवा प्रथम शिक्षा प्राप्त करने का कोई उपाय ही नहीं है। जैसे छोटा बच्चा सयाने लोगों की बातों का अनुकरण करके बोलना सीखता है, जैसे वह सयानों के कामों को देखकर अनुकरण करके उन्हें करना सीखता है, वैसे ही असभ्य और अशिक्षित जातियाँ सभ्य और शिक्षित जातियों का अनुकरण करके वैसी ही बनती हैं। अतएव नई पौध के हिन्दुस्तानी अगर अँगरेज़ों का अनुकरण करते हैं तो वह ठीक है—युक्तिसंगत है। यह सच है कि आदि की सभ्यजातियाँ, बिना किसी का अनुकरण किये शिक्षित और सभ्य बनीं—प्राचीन भारतवर्ष और मिसर की सभ्यता किसी के अनुकरण का फल नहीं है। किन्तु आधुनिक यूरोप की सभ्यता और शिक्षा, जो इस समय सब जातियों की सभ्यता और शिक्षा से श्रेष्ठ समझी जाती है, कैसे सुसम्पन्न हुई ? इसका उत्तर यही है कि अनुकरण से। रोम और यूनान की सभ्यता के अनुकरण से ही यूरोप की सभ्यता इस दर्जे को पहुँची है। रोम की सभ्यता भी यूनान की सभ्यता के अनुकरण का फल है। पुरावृत्त जाननेवालों को मालूम है

कि आजकल हिन्दुस्तानी बाबू लोग अँगरेजों का जितना और जैसा अनुकरण करते हैं यूरोपियन लोगों ने पहले-पहल यूनानियों का—विशेष कर रोम का—उससे कम अनुकरण नहीं किया। उन्होंने पहले अनुकरण किया. इसी से आज वे उन्नति के इतने ऊँचे सोपान पर विजय-वैजयन्ती लिये खड़े हुए हैं। लड़कपन में दूसरे का हाथ पकड़ कर जल में उतरना जिसने नहीं सीखा, वह कभी तैरना नहीं सीख सकता। मास्टर के अक्षरों को देखकर जिसने पहले लिखना नहीं सीखा, वह लिख नहीं सकता। हिन्दुस्तानी लोग अँगरेज़ों का अनुकरण कर रहे हैं, यही उनके लिये आशा है।

किन्तु लोगों को यह विश्वास है कि अनुकरण के द्वारा प्रथम दर्जे की, उन्नति नहीं हो सकती। क्यों भाई, कैसे ?

पहले साहित्य को लीजिए। पृथ्वी के कुछ प्रथम श्रेणी के महाकाव्य केवल अनुकरण-मात्र हैं। पोप ने ड्राइडेन और बोयालो का अनुकरण किया है और जान्सन ने पोप का। हम इस तरह के छोटे २ लेखकों के दृष्टान्त दिखाकर ही अपने कथन को प्रमाणित नहीं करना चाहते। बड़ों को भी देखिए। वर्जिल का महाकाव्य होमर के प्रसिद्ध महाकाव्यका अनुकरण है। रोमका सारा साहित्य यूनान के साहित्य का अनुकरण है। कहने का मतलब यह है कि जो रोम का साहित्य वर्तमान यूरोप की सभ्यता का आधार है वह अनुकरण मात्र है। इन विदेश के उदाहरणों को जाने दीजिए। आप अपने ही यहाँ के लीजिए। हमारे देश में दो महाकाव्य हैं—उनको हम महाकाव्य न कहकर गौरव के लिये इतिहास कहते हैं—वे पृथ्वी के सब

काव्यों में श्रेष्ठ हैं। गुण में दोनों प्रायः समान ही हैं,थोड़ा ही अंतर है। पर साहित्य की दृष्टि से देखिये तो एक प्रायः दूसरे का अनुकरण है। ह्वीलर साहब को छोड़कर शायद और कोई आपत्ति नहीं करेगा कि महाभारत की रचना रामायण के बाद हुई है। अन्यान्य अनुकृत और अनुकारी नायकों में जितना अन्तर देखा जाता है, राम और युधिष्ठिर में उससे अधिक अन्तर नहीं है। रामायण के अमित बलशाली वीर जितेन्द्रिय भ्रातृवत्सल लक्ष्मण महाभारत में अर्जुन बन गये हैं और भरत-शत्रुघ्न का प्रतिबिंब नकुल-सहदेव। भीम का ढंग निराला है,तथापि बहुतसी बातों में उनपर कुम्भकर्ण की छाया पड़ गई है। रामायण में विभीषण हैं, महाभारत में विदुर हैं। अभिमन्यु और इन्द्रजित् एक ही ढंग के हैं। इधर राम अपने भाई और स्त्री के साथ सुदीर्घसमय तक वन में रहने को बाध्य हुए, और उधर युधिष्ठिर भी भाई और स्त्री के साथ वन को गये। दोनों ही राज्य पाते पाते उससे वञ्चित हुए। एक की स्त्री हरी गई और दूसरे की स्त्री का भरी सभा में अपमान हुआ। दोनों ही महाकाव्यों का सारांश जो युद्ध है, उसमें एक में स्पष्ट रूप से और दूसरे में अस्पष्ट रूप से—वही अग्नि जलती है। दोनों ही काव्य का प्लाट यह है कि युवराज राजभ्रष्ट होकर भाई और स्त्री के साथ वनवासी बने, फिर लड़कर विजय लक्ष्मी पाकर अपना राज्य करने लगे। छोटी छोटी घटनाओं पर भी यही बात पाई जाती है। लव-कुश का काम मणिपुर में बभ्रूवाहन ने कर दिखाया। मिथला में धनुर्भङ्ग हुआ, पञ्जाब में भी उस धनु की क्रिया से मत्स्यवेध

हुआ। दशरथ और पाण्डु का पाप और साप बहुत कुछ मिलता जुलता है। लंकादाह और और लाक्षाभवन की लीला में भी घटना-सादृश्य है।

हमारे इस कथन का यह आशय न समझ लिया जाय कि रामायण और भारत के पात्र पृथ्वी पर पैदा ही नहीं हुए, या उन्होंने इन काव्यों में वर्णित कार्यों को नहीं किया। वे सब लोग हुए और उन्होंने उन कार्य्यों को भी किया। किंतु उनके उन कार्य्यों का वर्णन परवर्ती कवियों के द्वारा किया गया—और उनमें परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि का वहुत कुछ अनुकरण किया और पूर्ववर्ती कवि ने भी लोकपरम्परा के मुख से सुने गये उपाख्यान के वर्णन करने में अपनी कवित्वशक्ति का उपयोग किया। इसी कारण हमने इन दोनों ग्रंथों को, इतिहास होने पर भी, महाकाव्य कहा है।

आपका जी चाहे तो आप महाभारत को रामायण का अनुकरण न कहें, परंतु याद रखिए, अनुकृति और अनुकारो में इससे अधिक समानता आपको वहुत कम मिलेगी। मगर देखिये, हमारी समझ में महाभारत रामायण का अनुकरण होकर भी पृथ्वी में अद्वितीय है। अगर इसकी तुलना हो सकती है तो कुछ अंशों में रामायण से। परंतु संपूर्ण नहीं। क्योंकि महाभारत में वहुत से नवीन पात्र और घटनायें ऐसी हैं जो रामायण में नहीं हैं महाभारत के श्रीकृष्ण बलराम, भीष्म, कर्ण सुभद्रा आदि रामायण में नहीं हैं। पात्रों के स्वभावों में भी, स्थूलरूप से समता होने पर भी, सूक्ष्मरूप से अंतर है। एक सीता और द्रौपदी को ही लीजिए। द्रौपदी की प्रचंडता

और तेजस्विता सीताजी में नहीं है; केवल उसकी झलक रावण को अशोक-वाटिका में फटकारते समय सीता जी में पाई जाती है।

साहित्य को देख चुके, अब समाज को देखिए। जब रोमवालों को यूनान की सभ्यता का पता लगा, तब वे मन-वाणी-काय से उसका अनुकरण करने लगे। उसका फल यह हुआ कि सिसरो ऐसे वक्ता, तासितस ऐसे इतिहास-लेखक, वर्जिल ऐसे महाकवि, प्लाटस और टेबिन्स ऐसे नाटककार, होरेस और ओविदा ऐसे गीतकाव्य बनाने वाले, पेपिनियन ऐसे व्यवस्थाकार, सेनेका ऐसे धर्म-नीति-प्रणेता, आन्तनैन ऐसे राजधर्म पालनेवाले और कुकालस ऐसे भोगासक्त पुरुष रोम में दिखाई पड़े; जन साधारण का ऐश्वर्य दिन दिन बढ़ा और सम्राटों ने अपनी सौन्दर्य-प्रियता का परिचय देनेवाली बड़ी बड़ी इमारतें बनाईं। यूरोप का हाल ऊपर लिखा ही जा चुका है। इटली और फ्रांस का साहित्य का भी ग्रीस और रोम के साहित्य का अनुकरण है। यूरोप का व्यवस्थाशास्त्र रोम के व्यवस्थाशास्त्र का अनुकरण है। यूरोप की शासनप्रणाली भी रोम के अनुकरण पर संगठित हुई है। कहीं वह 'इम्पिरेटर' है, कहीं वही 'फोरम' है, कहीं वही 'प्लेब' श्रेणी है, कहीं वही 'म्यूनिसिपियम' है। आधुनिक यूरोप का स्थापत्य (गृह-निर्माणकला) और चित्रविद्या का मूल भी यूनान और रोम से आया है। ये सब चीजें पहले-पहल अनुकरण मात्र थीं। अब अनुकरण छोड़ कर और भी उन्नत होकर इन सब बातों में यूरोपियन लोग अपने गुरु से भी बढ़े चढ़े हैं। मगर ऐसा होने के लिए प्रतिभा की बड़ी आवश्य-

कता है।(प्रतिभाशाली लोग पहले अनुकरण करते हैं और फिर उसका अनुशीलन, अभ्यास और आलोचना करके स्वतन्त्रतापूर्वक पूर्वगामियों से आगे बढ़ जाते हैं।) जो बच्चा पहले लिखना सीखता हैं. उसे पहले गुरु के हस्ताक्षरों का अनुकरण करना पड़ता है। अंत को उसके अक्षर अलग हो जाते हैं; और प्रतिभा होने पर तथा अभ्यास करने पर वह गुरु से भी अच्छा लिख सकता है।

परन्तु, इस में कोई सन्देह नहीं कि प्रतिभा से शून्य मनुष्य अगर अनुकरण करता है तो उसका फल अच्छा नहीं होता. जिस में जिस बात की स्वाभाविक शक्ति नहीं वह उस बात का सदा अनुसरण ही किया करता है, उसमें कुछ अपनी विचित्रता या स्वतन्त्रता दिखाने की शक्ति कभी नहीं देख पड़ती। यूरोप के नाटक इसका एक उत्तम उदाहरण हैं। यूरोप की जातियों में जो नाटककार हुए हैं, सब ने यूनानी नाटकों का अनुकरण किया है। किन्तु प्रतिभाशाली होने के कारण स्पेन और इंग्लैण्ड के नाटक शीघ्र ही स्वतन्त्र रूप से लिखे जाने लगे और इंग्लैण्ड ने इस विषय में ग्रीस के बराबर आसन जमा लिया। इधर इस विषय में प्रतिभा अर्थात् स्वाभाविक शक्ति से शून्य रोम, इटली, फ्रान्स और जर्मनी के लेखक केवल अनुकरण करने वाले ही बने रहे। बहुत लोग कहते हैं कि रोम आदि देशों के लोग जो नाटक-रचना में स्पेन और इंग्लैण्ड के समकक्ष न हो सके, इसका कारण और कुछ नहीं उनके अनुकरण का अनुराग ही है! लेकिन यह भ्रम है। इसका कारण अनुकरण का अनुराग नहीं, उनमें नाटक-रचना की स्वाभाविक शक्ति का न होना ही है। अनुकरण की इच्छा भी एक काय है, कारण नहीं।

'अनुकरण' को आजकल लोग गाली से बढ़कर समझते हैं। इसका कारण यही है कि प्रतिभाशून्य लोगों की अनुकरणमें प्रवृत्ति और उसका बुरा फल देखकर लोगों को उस पर अश्रद्धा या अरुचि हो गई है। असमर्थ मनुष्य के लिए अनुकरण से बढ़कर हँसी की बात और नहीं है। एक तो वह खुद बुरा, उस पर उसका अन्य अनुकरण करना किस को अच्छा लगेगा ?

यदि प्रतिभाशाली व्यक्ति अनुकरण करे तो वह कभी घृणा के योग्य नहीं। हम लोगों की इस समय जो दशा हो रही है, उसे देखते हमारी अनुकरण की प्रवृत्ति बुरी वा अनुचित नहीं कही जा सकती। हमारी समझ में तो ऐसा अनुकरण मनुष्य के स्वभाव से ही सिद्ध है। ऐसा अनुकरण करने में अगर कोई हिन्दुस्तानियों को दोष दे, तो हमें तो उसका कोई यथेष्ट कारण नहीं देख पड़ता। यह तो मनुष्य का स्वभावसिद्ध गुण (या दोष) है। जब उत्कृष्ट और निकृष्ट मिलते हैं तब निकृष्ट को उत्कृष्ट के समान होने की अभिलाषा होना एक स्वाभाविक बात है। समान होने का उपाय क्या है ? उपाय यही है कि उत्कृष्ट लोग जैसा करते हैं निकृष्ट लोग भी वैसा ही करें। इसी को अनुकरण कहते हैं। आजकल के हिन्दुस्तानी लोग देखते हैं कि अंगरेज़ लोग सभ्यता में, शिक्षा में, ऐश्वर्य में, सुख में, विद्या में सब बातों में उनसे श्रेष्ठ हैं तब हिन्दुस्तानी लोग क्यों न अंगरेज़ों के समान होना चाहेंगे ? हिन्दुस्तानी लोग समझते हैं कि अंगरेज़ लोग जो जो करते हैं उसका अनुकरण करने से हम भी उन्हीं के ऐसे सभ्य, शिक्षित, सम्पन्न और सुखी

हो जायेंगे। चाहे कोई भी जाति हो, हिन्दुस्तानियों के स्वभाव का दोष नहीं है। कम से कम उच्च जातियों के हिंदु आर्यों के वंश में उत्पन्न हैं। उनके शरीर में इस समय भी आर्यों का रक्त लहरें मार रहा है। वे कभी वानरों की तरह केवल अनुकरण-प्रिय नहीं हो सकते। उनके अनुकरण का कुछ उद्देश्य है। उनका अनुकरण स्वाभाविक और अन्त में मंगलदायक हो सकता है। जो लोग हमें अंगरेज़ों की पोशाक, रहन-सहन और खाने-पीने का अनुकरण करते देख कर जल उठते हैं, वे अंगरेज़ों को फ्रांस के खान-पान और पहनाव का अनुकरण करते देखकर क्या कहेंगे ? अनुकरण करने में क्या अंगरेज़ लोग हिंदुस्तानियों से कम हैं ? भला, हम जो अनुकरण करते हैं वह तो अपनी जाति के प्रभुओं का करते हैं, मगर अङ्गरेज़ किसका अनुकरण करते हैं ?

हम यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि आधुनिक हिन्दुस्तानी जितना अनुकरण कर रहे हैं, उतने की आवश्यकता नहीं। हिंदुस्तानियों में प्रतिभाहीन अनुकरण करने वाले ही अधिक हैं। और वे प्रायः गुणों का अनुकरण न कर दोषों के ही अनुकरण में तत्पर देख पड़ते हैं। यही बड़े दुःख की बात है। हिन्दुस्तानी लोग गुणों का अनुकरण करने में उतने निपुण नहीं हैं, मगर दोषों का अनुकरण करने में वे पृथ्वीमंडल में अपना सानी नहीं रखते। इसी लिए लोग हिन्दुस्तानियों की अनुकरण पर प्रवृत्ति को गालियाँ देते हैं, और इसी कारण राजनारायण जी ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, हम उस में से बहुत सी बातों को स्वीकार करते हैं।

अनुकरण करने वाला प्रतिभाशाली होने पर भी, अनुकरण में

भी भारी दोष दिखाई देते हैं। एक तो उससे विचित्रता के विकास में विघ्न होता है। इस संसार में विचित्रताका सुख भी एक प्रधान सुख है पृथ्वी भर के सब पदार्थ अगर एक ही अंगके होते,तो जगत का दृश्य क्या इतना सुखदायक कभी हो सकता था?यदि सब शब्द एक ही तरह के होते,मानलो,सब शब्द कोयल का स्वर ही होते-तो बतलाओ मधुर का स्वर कानों को कभी अच्छा लगता? हममें यदि वैचित्र्य सुख का अनुराग न होता तो चाहे वह अच्छा भी लगता, लेकिन इस समय जिस प्रकृति को लेकर मनुष्य जाति पैदा हुई है उसमें विचित्रिता के बिना सुख नहीं स्वाद नहीं। अनुकरण की प्रवृति उस वैचित्र्य के मार्ग में कण्टक है। हम मानते हैं शेक्सपियर का मैकबेथ नाटक एक उत्तम नाटक है किन्तु यदि पृथ्वी के सब नाटक मैकबेथ के अनुकरण ही पर लिखे गये होते, तो फिर नाटक देखने में क्या सुख या स्वाद रह जाता ? सभी महाकाव्य अगर रघुवंश के आदर्श पर लिखे जाते तो फिर कौन महाकाव्य पढ़ता ?

दूसरा दोष अनुकरण में यह है कि उससे शीघ्र किसी काम में उन्नति नहीं होती। संसार का नियम है कि चाहे जिस काम को आप ले लीजिए, उसमें बारम्बार यत्न करते रहने से ही उन्नति की सम्भावना होती है। किन्तु यदि पूर्व-वर्ती कार्य का अनुकरण मात्र हुआ, तो चेष्टा किसी नई राह पर नहीं जाती। यही कारण है कि उस कार्य में उन्नति नहीं होने पाती। तब फल यह होता है कि बहुत दिनों तक एक ही ढङ्ग चला जाता है। इस बात को क्या शिल्प, साहित्य, विज्ञान,—और क्या सामाजिक

कार्य या मानसिक अभ्यास,—सबमें आप आज़मा कर देख सकते हैं।

विचार करने से जान पड़ेगा कि मनुष्य की दैहिक और मानसिक वृत्तियों की एक साथ ही यथोचित स्फूर्ति और उन्नति ही मनुष्य देह धारण करने का प्रधान उद्देश्य है। मगर जिससे उनमें से कुछ वृत्तियाँ अधिक पुष्ट हों, और कुछ के प्रति अवज्ञा उत्पन्न हो, वह कार्य मनुष्य के लिए अवश्य ही अनिष्टकारी है। मनुष्य अनेक हैं और एक मनुष्य के सुख भी अनेक हैं। उन सब सुखों की सिद्धि के लिए बहुत तरह के भिन्न भिन्न कार्यों के करने की आवश्यकता है। वे भिन्न भिन्न प्रकारके कार्य भिन्न भिन्न प्रकृति के लोगों के बिना सुसम्पन्न नहीं हो सकते। एक श्रेणी के चरित्र वाला आदमी अनेक श्रेणी के अनेक कार्य नहीं कर सकता। अतएव संसार में चरित्र-वैचित्र्य कार्य-वैचित्र्य, और प्रवृत्ति-वैचित्र्य की बड़ी ज़रूरत है। इसके सिवा समाज की सर्वाङ्ग उन्नति नहीं हो सकती। इस वैचित्र्य की उन्नति में ही समाज की भलाई है। अनुकरण प्रवृत्ति का फल यही होता है कि अनुकरण करनेवाले के चरित्र, प्रवृत्ति और कार्य अनुकृत के ऐसे हो जाते हैं-अनुकरण करने वाला दूसरे मार्ग पर नहीं जा सकता, (लेकिन यह नियम विशेष कर प्रतिभा-हीन लोगों के लिए ही लागू है), और जब समाज के सभी लोग या अधिकांश लोग, अथवा काम करनेवाले लोग, एक ही आदर्श का अनुकरण करने लगते हैं तब यह वैचित्र्य की हानि हो जाती है। मनुष्य-चरित्र का सम्पूर्ण विकास नहीं

होता, सब प्रकार की मानसिक वृत्तियों में सामञ्जस्य नहीं रहता, सब तरह के काम सुसम्पन नहीं होते, मनुष्य को सब प्रकार के सुख नसीब नहीं होते। मनुष्यत्व असम्पूर्ण रह जाता है, समाज असम्पूर्ण रह जाता है, मनुष्य-जीवन असम्पूर्ण रह जाता है।

हमारे इस सब कथन का सारांश यही है कि—

(१) सामाजिक सभ्यता की उत्पत्ति दो तरह से है—कोई समाज आपसे सभ्य होता है और कोई समाज दूसरे समाज से शिक्षा प्राप्त करता है। पहले प्रकार से बहुत दिन लगते हैं, और दूसरे प्रकार से, बहुत शीघ्र कार्य सिद्ध हो जाता है।

(२) जब कोई अपेक्षाकृत असभ्य जाति अत्यन्त सभ्य जाति से मिलने का अवसर पाती है तब वह सभ्यता की राह पर बड़ी तेज़ी से दौड़ने की कोशिश करती है, और प्रतिभा होने से अपनी चेष्टा में सफलता भी प्राप्त करती है। ऐसी जगह पर सामाजिक गति ऐसी होती है कि अपेक्षाकृत असभ्य अशिक्षित समाज अपने से अधिक सभ्य शिक्षित समाज का अनुकरण सब बातों में करने लगता है। यही स्वाभाविक नियम है।

(३) अतएव हिन्दुस्तानियों के आधुनिक समाज में दिखाई देनेवाली वह अनुकरण प्रवृत्ति न अस्वाभाविक है और न हिन्दुस्तानियों के स्वाभाविक दोष से उत्पन्न हुई है।

(४) अनुकरण मात्र से अनिष्ट नहीं होता। अगर अनुकरण में कुछ दोष हैं तो उसमें गुण भी हैं। प्रतिभा-हीन-विचित्रताहीन—का अन्ध अनुकरण दो कौड़ी का होता है। प्रतिभा-

शाली मनुष्य (या जाति) पहले अनुकरण करता है और पीछे अभ्यास हो जाने पर स्वतन्त्रत रूप से उसी में उन्नति करता है। हमारे हिन्दुस्तानियों की जैसी अवस्था है, उसे देख कर यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि इनकी अनुकरण-प्रवृत्ति अच्छी नहीं। इस अनुकरण-प्रवृत्ति में आशा की झलक भी पाई जाती है।

(५) परन्तु अन्ध अनुकरण में एक बड़ा भारी दोष भी है। वह यह कि अनुकरण योग्य प्रथम अवस्था निकल जाने पर भी अगर अनुकरण की प्रवृत्ति प्रवल वनी रही, अथवा अनुकरण के योग्य समय में ही बरावर अनुकरण की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ती गई, अर्थात् अनुकरण का अभ्यास बढ़ता गया, तो बहुत ही शीघ्र सर्वनाश उपस्थित होता है।

(६) अनुकरण करनेवाले हिन्दुस्तानी अगर इन बातों पर ध्यान दे कर संभल कर काम करें, तो वे शीघ्र ही अपने गुरुओं के उत्तम शिष्य बन कर सम्मान प्राप्त कर सकते हैं।

—:०:—

# नाटकत्व

(बाबू द्विजेन्द्रलाल राय)

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, तीनों की रचना मनुष्य-चरित्र को लेकर होती है। किन्तु इन तीनों में परस्पर बहुत भेद है।

महाकाव्य एक या उससे अधिक चरित्र लेकर रचे जाते हैं। लेकिन महाकाव्य में चरित्र-चित्रण प्रसंग मात्र है। कवि का मुख्य उद्देश्य होता है उस प्रसंग-क्रम में कवित्व दिखाना। महाकाव्यों में वर्णन ही (जैसे प्रकृति का वर्णन, मनुष्य की प्रवृत्तियों का वर्णन) कवि का प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्षमात्र होते हैं। जैसे—रघुवंश है। इसमें यद्यपि कवि ने प्रसंगवश चरित्रों की अवतारणा की है, परन्तु उनका प्रधान उद्देश्य कुछ 'वर्णन' करना है। जैसे—अज के विलाप में इन्दुमती की मृत्यु उपलक्षमात्र है। क्योंकि यह विलाप अज के सम्बन्ध में जैसे है, वैसे ही अन्य किसी प्रेमी स्वामी के सम्बन्ध में भी हो सकता है। वहाँ कवि का उद्देश्य है, चरित्र की कोई विशेषता न रख कर प्रयोजन के वियोग में शोक का वर्णन करना और उस वर्णन में अपनी कवित्वशक्ति दिखाना।

उपन्यास में कई चरित्र लेकर एक मनोहर कहानी की

रचना करना ही ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य होता है। उपन्यास का मनोहर होना उस कहानी की विचित्रता के ऊपर ही प्रधानरूप से निर्भर होता है।

नाटक काव्य और उपन्यास के बीच की चीज है। उसमें कवित्व भी चाहिए, और कहानी की मनोहरता भी चाहिए। इसके सिवा उसके कुछ बँधे हुए नियम भी हैं।

पहले तो, नाटक में कथा भाग का ऐक्य (Unity of plot) चाहिए। एक नाटक में केवल एक ही विषय प्रधान वर्णनीय होता है। अन्यान्य घटनाओं का उद्देश्य केवल उस विषय को प्रस्फुटित करना होता है।

उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि उपन्यास की गति आकाश में दौड़ते हुए छोटे छोटे मेघखंडों की सी होती है। उन सब की गति एक ही ओर होती है, लेकिन एक दूसरे के अधीन नहीं होती है। नाटक की गति नदी के प्रवाह की ऐसी होती है—अन्यान्य उपनदियाँ उसमें आकर मिलती हैं, और उसे परिपुष्ट करती हैं। अथवा उपन्यास का आकार एक शाखा के समान होता है—चारों तरफ नाना शाखा-प्रशाखायें हैं, और वहीं उनकी विभिन्न परिणति हो जाती है। किन्तु नाटक का आकार मधुचक्र (मधुमाखी से छत्ते) के ऐसा होता है। उसे एक स्थान से निकल कर, फिर विस्तृत होकर, अन्त को एक ही स्थान में समाप्त होना चाहिए। नाटक का मुख्य विषय प्रेम हो तो उस नाटक को प्रेम के परिणाम में ही समाप्त करना होगा—जैसे रोमियो-जूलियट है। मुख्य विषय

लोभ हो तो लोभ के परिणाम में ही नाटक समाप्त करना होगा—जैसे मैकबेथ है। नाटक का विषय उच्चाशय हो, तो उसके परिणाम में ही नाटक की परिणति होगी—जैसे जूलियस-सीजर है। नाटक का आरंभ प्रतिहिंसा से हो, तो अंत को प्रतिहिंसा का ही फल दिखाना होगा—जैसे हैमलेट है।

इसके सिवा नाटक का और एक नियम है। महाकाव्य या उपन्यास का वैसा कोई बँधा हुआ नियम नहीं है। नाटक में, प्रत्येक घटना की सार्थकता चाहिए। नाटक के भीतर अवान्तर विषय लाकर नहीं रक्खे जा सकते। सभी घटनाओं या सभी विषयों को नाटक की मुख्य घटना के अनुकूल या प्रतिकूल होना चाहिए। नाटक में ऐसी कोई घटना या दृश्य नहीं होगा, जिसके न रहने पर भी नाटक का परिणाम वैसा ही दिखाया जा सकता हो। नाटककार अपने नाटक में जितनी ही अधिक घटनाओं का समावेश कर सकता है, उतनी ही उसकी क्षमता प्रकट हो सकती है—और आख्यान भाग भी उतना ही मिश्र हो सकता है। लेकिन उन सब घटनाओं की दृष्टि मूलघटना की ओर ही होनी चाहिए। वे या तो मूल घटना को आगे बढ़ा देंगी या पीछे हटा देंगी। तभी वह नाटक होगा, अन्यथा नहीं। उपन्यास में इस तरह का कोई नियम नहीं है। महाकाव्य में भी घटनाओं की एकाग्रता या सार्थकता का कुछ प्रयोजन नहीं है।

कवित्व नाटक का एक अंग है। उपन्यास में कवित्व न रहने से भी काम चल सकता है। नाटक में चरित्र-चित्रण का होना

आवश्यक है, पर काव्य में चरित्र-चित्रण न होने से भी काम चल सकता है।

नाटक का और एक प्रधान नियम है, जो नाटक को काव्य और उपन्यास दोनों से अलग करता है। नाटक का कथा भाग घटनाओं के घात-प्रतिघात से अग्रसर होता है। नाटक का मुख्य चरित्र कभी सरल-रेखा में नहीं जाता। जीवन एक ओर जा रहा था, ऐसे ही समय धक्का लगकर उसकी गति दूसरी ओर फिर गई, उसके बाद धक्का खाकर उसको दूसरी ही ओर फिरना पड़ा— नाटक में यही दिखाना होता है। उपन्यास अथवा महाकाव्य में इसका कुछ प्रयोजन नहीं। यह बात अवश्य ही होती है कि हर एक मनुष्य का जीवन, वह चाहे जितना सामान्य क्यों न हो, किसी न किसी ओर कुछ न कुछ धक्का पाता ही है। किसी भी मनुष्य का जीवन एकदम सरल-रेखा में नहीं जाता। एक आदमी खूब अच्छी तरह लिख-पढ़ रहा था, सहसा पिता की मौत हो गई, उसे लिखना-पढ़ना छोड़ देना पड़ा। किसी ने ब्याह किया, उसके कई बच्चे हो गये, और तब उसे अर्थकष्ट के कारण नौकरी या दासवृत्ति स्वीकार कर लेनी पड़ी। प्रायः प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस तरह की घटनापरंपरायें देख पड़ती हैं। इसी कारण किसी भी व्यक्ति के जीवन का इतिहास लिखा जायगा तो वह अवश्य ही कुछ न कुछ नाटक का आकार धारण करेगा। किन्तु यथार्थ नाटक में ये घटनायें जरा जोरदार होनी चाहिए। धक्का जितना अधिक और प्रबल होगा, उतना ही वह नाटक के लिए उपयुक्त उपकरण होगा।

कम से कम ऐसा दिखाना चाहिए कि नाटक के सब प्रधान चरित्र बाधा को नाँघ रहे हैं, या नाँघने की चेष्टा कर रहे हैं। जिस में केन्द्रीय चरित्र बाधा को नाँघता है, उस नाटक को अँगरेजी में Comedy कामिडी कहते हैं। बाधा नाँघते ही वहीं पर उस नाटक की समाप्ति हो जाती है। जैसे—दो जनों का विवाह अगर किसी भी नाटक का मुख्य विषय हो, तो जब तक अनेक प्रकार के विघ्न आकर उनके विवाह को संपन्न नहीं होने देते तभी तक वह नाटक चलता रहता है। इसके बाद ज्यों ही वियाहकार्य संपन्न हुआ कि यवनिका-पतन हो जायगा।

अन्त में, ऐसा भी हो सकता है कि बाधा न भी नाँघी जा सके, बाधा नाँघने के पहले ही जीवन की या घटना की समाप्ति हो जाय और दुःख दुःख ही रह जाय। ऐसे स्थल में, अँगरेजी में जिसे Tragedy ट्रेजिडी कहते हैं उसकी सृष्टि होती है। जैसे ऊपर कहे गये उदाहरण में मान लीजिये, अगर नायक या नायिका की, अथवा दोनों की मृत्यु हो जाय, या अथवा दोनों निरुद्देश हो जायँ। उसके बाद और कुछ कहने को नहीं रह जाता। उस दशा में वहीं यवनिका-पतन हो जायगा।

मतलब यह कि सुख की और दुःख की बाधा और शक्ति, चरित्र और बहिर्घटना के संघर्षण से नाटक का जन्म है। उसमें युद्ध चाहिए वह चाहे बाहर की घटनाओं के साथ हो; और चाहे भीतर की प्रवृत्तियों के साथ हो।

जिस नाटक में अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाता है वही नाटक उच्च

श्रेणी का होता है—जैसे हैम्लेट अथवा किंग लियर हैं। बहिर्घटनाओं के साथ युद्ध दिखाना अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के नाटक की सामग्री है। ऐसे नाटक हैं—उथेलो या मैकबेथ। उथेलो को इयागो ने समझाया कि तेरी स्त्री भ्रष्टा है। वह मूर्ख वही समझ गया। उसके मन में तनिक भी दुविधा नहीं आई। उथेलो नाटक में केवल एक जगह पर उथेलो के मन में दुविधा आई है वह दुविधा स्त्री-हत्या के दृश्य में देख पड़ती है। वहाँ पर भी युद्ध प्रेम और ईर्षा में नहीं हैं रूप-मोह और ईर्षा में है—मैकबेथ में जो कुछ दुविधा है वह इस दुविधा की अपेक्षा कहीं ऊँचे दर्जे की है। डंकन की हत्या करने के पहले मैकबेथ के हृदय में जो युद्ध हुआ था, वह धर्म और अधर्म में, आतिथ्य और लोभ में हुआ था। परन्तु किंग लियर का युद्ध और तरह का है, वह युद्ध ज्ञान और अज्ञान में है, विश्वास और स्नेह में है, अक्षमता और प्रवृत्ति में है। हैम्लेट के मन में जो युद्ध है वह आलस्य और इच्छा में, प्रतिहिंसा और सन्देह में है। यह युद्ध नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक होता रहा है।

यह भीतरी युद्ध सभी महानाटकों में है। कोई भी कवि प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के संघात में लहर उठा सके बिना, विपरीत वायु के संघात से प्रचण्ड ववंडर उठा सके बिना, चमत्कारयुक्त नाटक की सृष्टि नहीं कर सकता।

अन्तर्विरोध के रहे बिना उच्च श्रेणी का नाटक बन ही नहीं सकता। बाहर के युद्ध से नाटक का विशेष उत्कर्ष नहीं होता।

उसे तो ऐरे गैरे सभी नाटककार दिखा सकते हैं। जिस नाटक में केवल उसी का वर्णन होता है, वह नाटक नहीं, इतिहास है। जिस नाटक में बाहर के युद्ध को उपलक्षमात्र रख कर मनुष्य की प्रवृत्तियों का विकास दिखाया जाता है वह नाटक अवश्य हो सकता है, परन्तु उच्च श्रेणी का नहीं। जो नाटक प्रवृत्तियों का युद्ध दिखाता है, वही उच्च श्रेणी का नाटक है।

उच्च श्रेणी के नाटक में प्रवृत्तिसमूह का सामंजस्य अधिक परिणाम में रहता है। जैसे साहस, अध्यवसाय, प्रत्युत्पन्नमतित्व इत्यादि गुणों का समवाय। अथवा द्वेष, जिघाँसा, लोभ इत्यादि वृत्तिसमूह का समवाय एक चरित्र में रह सकता है।

अनुकूल वृत्तिसमूह के सामंजस्य की रक्षा कर के नाटक लिखना उतना कठिन नहीं है। उसमें मनुष्य हृदय के सम्बन्ध में नाटककार के ज्ञान का भी विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। आदर्श-चरित्र के सिवा प्रत्येक मनुष्य-चरित्र दोष और गुण से गठित होता है। दोषों को निकाल कर केवल गुण ही गुण दिखाने से अथवा गुणों को छोड़ कर केवल दोष ही दोष दिखाने से एक सम्पूर्ण मनुष्य-चरित्र नहीं दिखाया जा सकता। जो नाटककार एक आदर्श चरित्र चित्रित करने ही को बैठा हो, उसकी बात जुदी है। वह देव चरित्र–मनुष्य का चरित्र कैसा होना चाहिए–यही दिखाने बैठा है। वास्तव में वह नाटक के आकार में धर्म का प्रचार करने बैठा है। मैं तो ऐसे ग्रन्थों को नाटक ही नहीं कहता –धर्म ग्रंथ कहता हूँ। ऐसा कवि उस चरित्र के जितने प्रकार के गुण हो

सकते हैं उन सबको एकत्र एक नाटक में जितना दिखा सकता है उतनी ही उसकी प्रशंसा है। किन्तु उससे मनुष्य-चरित्र का चित्र नहीं अंकित होता।

विपरीत वृत्ति-समूह का समवाय दिखाना अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। इसी जगह पर नाटककार का कृतित्व अधिक है। जो नाटककार मनुष्य के अंतर्जगत् को खोलकर दिखा सकता है वही यथार्थ में सच्चा दार्शनिक कवि है (बल और दुर्बलता के, जिघांसा और करुणा के, ज्ञान और विज्ञान के, गर्व और नम्रता के क्रोध और संयम के-पाप और पुण्य के-समावेश से ही यथार्थ उच्चश्रेणी का नाटक होता है। इसी को मैं अन्तर्विरोध कहता हूँ। मनुष्य को एक शक्ति धक्का देती है, और दूसरी एक शक्ति उसे पकड़े रोके रखती है। घुड़सवार की तरह कवि एक हाथ से चाबुक मारता है और दूसरे हाथ से रास पकड़े खींचे रहता है। ऐसे कवि ही महादार्शनिक कवि कहलाते हैं।

नाटक में और एक गुण रहना चाहिए। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या महाकाव्य, कोई भी प्रकृति का अतिक्रमण नहीं कर सकता। वास्तव में सभी सुकुमार-कलायें प्रकृति की अनुगामिनी होती हैं। कवि को अधिकार है कि वह प्रकृतिको सजावे या रंजित करे। किन्तु उसे प्रकृति की उपेक्षा करने का अधिकार नहीं है।

अब हमने देखा कि नाटक में ये गुण रहने चाहिये।—(१) घटना का ऐक्य, (२) घटना की सार्थकता, (३) घटनाओं की घात-प्रतिघात गति, (४) कवित्व, (५) चरित्र-चित्रण और

( ६ ) स्वाभाविकता।

अब कालिदास के शकुन्तला नाटक के आख्यानभाग को ले लीजिए। दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का प्रेम ( उसका अंकुर, उस की वृद्धि और उसका परिणाम) दिखाना ही इस नाटक का उद्देश्य है। इस नाटक का आरंभ जिस विषय को लेकर हुआ है, उसी विषय को लेकर समाप्ति भी हुई है इसका मूल विषय प्रेम है, युद्ध नहीं। उस प्रेम की सफलता या निष्फलता को लेकर ही प्रेममूलक नाटक की रचना होती हैं। शकुन्तला नाटक में प्रेम को सफलता दिखाई गई है। अतएव देखा जाता है कि शकुन्तला नाटक में घटना का ऐक्य है।

उसके बाद इस नाटक में अन्य सब चरित्र दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रेमकथा को प्रस्फुटित करने के लिए ही कल्पित हुए हैं! नाटक में वर्णित सभी घटनायें उसी प्रेम की धारा में या तो बाधास्वरूप होकर संमिलित हुई हैं, या उस प्रेमप्रवाह को और भी वेग से आगे बढ़ाने के लिए सहायक बनी हैं। विदूषक से राजा का झूठ बोलना, एकान्त में गुप्त रूप से विवाह, दुर्वासा का शाप, अँगुठी का उँगली से गिर जाना—ये घटनायें मिलन के प्रतिकूल हैं। विवाह, धीवर के द्वारा अँगूठी का निकलना और मिलना। राजा का स्वर्ग में निमंत्रण-ये घटनायें मिलन के अनुकूल हैं। ऐसा एक भी दृश्य इस नाटक में नहीं है, जिसके निकाल डालने से परिणाम ठीक वर्णितरूप में होता। अतएव इस नाटक में घटनाओं की सार्थकता भी है।

इसके सिवा इस नाटक में देखा जायगा कि घात-प्रतिघात में ही यह नाटक अग्रसर हुआ है। पहले अंक में ज्यों ही शकुन्तला और दुष्यन्त के मन में परस्पर मिलने की आकांक्षा उत्पन्न होती है, त्यों ही घर लौट आने के लिए दुष्यन्त के पास माता की आज्ञा पहुँचती है। उधर गौतमी की सावधान दृष्टि, गुप्तरूप से विवाह, कण्व के भय से राजा का भाग खड़े होना, दुर्वासा का अभिशाप इत्यादि घटनाओं ने कथाभाग को लगातार वक्रभाव से आगे बढ़ाया है, उसे सरल भाव से नहीं चलने दिया।

कालिदास ने इस नाटक में अन्तर्विरोध भी दिखाया है। किन्तु वह अन्तर्विरोध प्रायः किसी जगह अच्छी तरह स्पष्ट नहीं हुआ। पहले अंक में, शकुन्तला के जन्म के सम्बन्ध में राजा का कौतुहल वासना जनित है। शकुन्तला से ब्याह करने की इच्छा दुष्यन्त के मन में पैदा हुई, लेकिन असवर्ण-विवाह तो संभव नहीं। इसी से राजा सोचते हैं कि शकुन्तला ब्राह्मण-कन्या है या नहीं। यह दुविधा दुष्यन्त को किसी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व में नियुक्त नहीं कर पाई, पहले ही सन्देह-भंजन होगया। उन्हें मालूम हो गया कि शकुन्तला विश्वामित्र के वीर्य से उत्पन्न मेनका अप्सरा की कन्या है। वास्तव में सन्देह उठते ही उसकी जड़ कट गई। कारण, दुष्यन्त कहते हैं कि उनके मन में जब शकुन्तला के ऊपर आसक्ति उत्पन्न हुई है तब शकुन्तला को क्षत्रिय कन्या होना ही होगा। यहाँ कोई भी अंतर्विरोध नहीं है।

माता की आज्ञा और ऋषियों की आज्ञा में कुछ भी संघर्ष नहीं हुआ। माता की आज्ञा पहुँचते ही उसकी व्यवस्था हो गई।

माधव्य जायँगे राजमाता की आज्ञा का पालन करने, और राजा जाएँगे ऋषियों की आज्ञा का पालन करने– अर्थात् शकुन्तला के लिए। तीसरे अङ्क में जिस समय राजा अकेले हैं उस समय वे सोचते हैं—"जाने तपसो वीर्य, सा वाला परवतीति मे विदितम्।" (मैं तप के बल को जानता हूँ और यह भी मुझे विदित है कि वह बाला पराधीन है।) किन्तु इसके बाद ही उनका सिद्धान्त हो गया कि "नच निम्नादिव सलिलं निवर्तते मे ततो हृदयम्।" (किन्तु तो भी नीचे की ओर जाने वाली जलराशि की तरह मेरा हृदय उसी की ओर जा रहा है, उधर से नहीं लौटता)।

उसके बाद इसी अङ्क में राजा एकदम प्रकृत कामुक देख पड़ते हैं। यथार्थ अन्तर्विरोध जो कुछ हुआ है, वह पंचम अङ्क में।

दुर्वासा के शाप से राजा को स्मृतिभ्रम हो गया है। किन्तु शकुन्तला को देखते ही उनका कामुक मन शकुन्तला की ओर खिच जाता है। वे प्रश्न करते हैं—

"यह कौन स्त्री है, जो घूँघट काढ़े हुए है और जिस का शरीर-लावण्य अतिपरिस्फुट नहीं है। इन मुनियों के बीच में यह वैसी ही जान पड़ती है, जैसे पके हुए पीले पुराने पत्तों के बीच कोई नई कोंपल हो।"

(केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥)

उनका ध्यान शकुन्तला के नातिपरिस्फुट शरीरलावण्य पर ही जाकर जम गया! किन्तु जब शार्ङ्गरव और गौतमी ने उसी

नातिपरिस्फुट शरीरलावण्यवाली अवगुण्ठनवती को पत्नीभाव से ग्रहण करने के लिए दुष्यन्त से कहा, तब दुष्यन्त ने कहा— "तुम लोग यह क्या कह रहे हो ?" (किमिदमुपन्यस्तम् ।)

गौतमी ने शकुन्तला का घूँघट खोल कर दिखाया। तब राजा ने फिर अपने मन में सोचा —

"इस प्रकार पाए हुए इस अमलिनकान्त मनोहर रूप को देख कर बारम्बार सोचने पर भी मैं कुछ निश्चय नहीं कर सकता कि पहले कभी मैं इसे ग्रहण कर चुका हूँ या नहीं। जैसे भ्रमर सवेरे के समय भीतर से हिमपूर्ण कुन्द कुसम को न भोग ही सकता है और न छोड़ ही सकता है, वैसे ही मैं भी इस समय शीघ्र न इसे ग्रहण ही कर सकता हूँ और न अस्वीकार ही कर सकता हूँ।"

(इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्नवेत्याव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव निशान्ते कुंदमन्तस्तुषारं
न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोमि मोक्तुम् ॥

यह यथार्थ अन्तर्विरोध है। एक तरफ लालसा है, और दूसरी तरफ धर्मज्ञान है। मन के भीतर युद्ध चल रहा है। तथापि राजा स्मरण नहीं कर सके कि उन्हों ने शकुन्तला से व्याह किया है या नहीं। उन्हों ने गर्भवती शकुन्तला को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। —

"इसके गर्भ के लक्षण सब प्रकट देख पड़ते हैं । मैं क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध इसे कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ?"

( कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणामात्मानमक्षत्रियं मन्यमानः प्रतिपत्स्ये । )

अब की शकुन्तला का मुँह खुला। उसने कहा—"ऐसे शब्दों से प्रत्याख्यान करना क्या आपके योग्य है ?"

राजा ने कानों में उँगली देकर कहा अर्थात् "हरे हरे ! तुम मुझे अधःपतित करना चाहती हो ? '

( 'शान्तं पापं+ +समीहसे माञ्च नाम पातयितुम् ।' )

शकुन्तला अँगूठी नहीं दिखा सकी ! अँगूठी उँगली से गिर गई थी। गौतमी ने कहा—"अँगूठी अवश्य ही नदी के भीतर गिर गई है" तब राजा ने यहाँ तक कि गौतमी पर व्यंग्य कर के कहा—'इसी से लोग स्त्रियों को प्रत्युत्पन्न-मति कहते हैं, अर्थात् वे तुरन्त बात बना लेना जानती हैं।" । इदं तावत्प्रत्युत्पन्न मतित्वं स्त्रीणाम्। ) यहाँ तक कि राजा ऐसे कठोर और असभ्य बन गये कि गौतमी ने जब कहा—"यह शकुन्तला तपोवन में पल कर इतनी बड़ी हुई है। शठता किसे कहते हैं, यह जानती भी नहीं है।"

तब राजा ने कहा—"जो मानुषी नहीं हैं उन स्त्रियों में भी जब स्वाभाविक चालाकी देख पड़ती है, तब जिन्हें बोध है उन मानुवी नारियों के लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। देखो, कोकिलायें अपने अण्डे कौओं के यहाँ रख आती हैं और कौए ही उन्हें पालते हैं। इस प्रकार वे अपने बच्चों को उड़ने लगने से पहले अन्य पक्षियों से पलवा लेती हैं।"

( स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वतममानुषीणां
संदृश्यते किमुत याः परिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वपत्यजात-
मन्यद्विजैः परभृतः किल पोषयन्ति ॥ )

यह सुन कर शकुन्तला ने क्रोध के साथ कहा—हे अनार्य ! तुम अपने ही समान सब को समझते हो ! × × तुम घास से ढके हुए कूप के समान धोखेबाज हो । सभी की वैसी प्रवृत्ति नहीं होती, यह जान रक्खो ।" उस समय शकुन्तला क्रोध से फूल रही थी । तब फिर राजा को संदेह हुआ । "यह तिरछी नज़र से नहीं देखती, इसकी आँखें भी अत्यन्त लाल हो रही हैं, वाक्य भी अत्यन्त निष्ठुर हैं, जो कि मेरे पद के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं । जैसे जाड़ा लग गया हो इस तरह इस का बिंबाफल सदृश सकल अधर काँप रहा है । दोनों भौंहें क्रोध के मारे ऊपर चढ़ गई हैं ।"

( न तिर्य्यगवलोकितं भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽपि परुषाक्षरं न च पदेषु सङ्गच्छते ।
हिमार्त इव वेपते सकल एव बिम्बाधरः
प्रकामविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदं गते ॥ )

तब शकुन्तला ने ऊपर हाथ उठा कर कहा—"महाराज ! आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, इसका साक्षी धर्म के सिवा और कोई नहीं है । स्त्रियाँ क्या कभी इस तरह लज्जा छोड़ कर परपुरुष की आकांक्षा करती हैं ? मैं क्या स्वेच्छारिणी गणिका की तरह आपके निकट आई हूँ ?"

शकुन्तला रोने लगी। दुष्यन्त चुप थे! हम समझ सकते हैं कि इस समय दुष्यन्त के हृदय में कैसी हलचल मची हुई थी। सामने रोती हुई अनुपम सुन्दरी उनसे पत्नीत्व की भिक्षा माँग रही है। उसके सहायक दो ऋषि और एक ऋषि कन्या है। किंतु उधर धर्म का भय उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। एक महासमर हो रहा है। अंत को धर्मभय की जय हुई। याद नहीं आता कि एक दृश्य में इतना बड़ा अन्तर्विरोध और किसी नाटक में मैंने देखा है या नहीं।

छठे अंक में राजा ने प्रतीहारी से कहा कि आज मैं धर्मासिन के सब कामों को अच्छी तरह नहीं देख सकूँगा। मन्त्री ही पुरवासियों के सब मामलों को देख-सुनकर उनका विवरण मेरे पास भेज दें। कंचुकी को भी यथोचित आज्ञा दी। सब के चले जाने पर राजा ने अपने प्रिय वयस्य विदूपक के आगे अपने हृदय का सब हाल कह दिया, अपना हृदय खोलकर दिखा दिया। इसके बाद चेटी दुष्यन्त के हाथ का बनाया हुआ शकुन्तला का चित्र लेकर आई। राजा उसे तन्मयचित्त होकर देखने लगे।

इसके बाद विदूपक उस चित्र को लेकर चला गया; और प्रतीहारी ने आकर राजकाज की रिपोर्ट राजा के आगे पेश की। राजा ने देखा, एक निःसन्तान व्यापारी समुद्र में डूब गया है। राजा ने उस पर आज्ञा दी कि "देखो, इस व्यक्ति के बहुत स्त्रियों का होना संभव है। यदि इसकी किसी स्त्री के गर्भ हो, तो वह गर्भस्थ सन्तान ही अपने पिता के धन का अधिकारी होगा।" इसके बाद प्रतीहारी जब जाने लगा, तब राजाने फिर उसे बुला कर कहा—

"उसके सन्तान हो या न हो इससे क्या मतलब—"देखो, प्रजागण को जिस जिस स्नेहपात्र बन्धु का वियोग हो, उस उसकी जगह, दुष्यन्त उनका बन्धु है किन्तु वह प्रजा किसी पाप से कलुषित न हो। यह घोषणा कर दो।"

(येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।

न स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥)

इसके बाद राजा को खुद अपनी निःसन्तान अवस्था का स्मरण हो आता है। वे सोचते हैं, मेरे भी तो कोई पुत्र नहीं है; मेरे बाद पूर्वपुरुषों को पिण्डदान कौन करेगा? राजा अपने को धिक्कार देने लगते हैं। इसी समय उन्हें माधव्य (विदूषक) का आर्तनाद सुन पड़ता है। वे सुनते हैं कि कोई पिशाच आकर उनके बन्धु को पकड़े लिया जा रहा है। सुनकर सुप्तोत्थित की तरह उठ खड़े होते हैं। वे धनुष बाण लेकर वयस्य को पिशाच से छुड़ाने के लिए जाना चाहते हैं कि उसी समय इन्द्र का सारथी मातलि माधव्य को साथ लिये उपस्थित होता है और राजा से कहता है कि दैत्यदमन के लिये इंद्रदेव उनकी सहायता के प्रार्थी हैं। राजा उस निमंत्रण को ग्रहण कर लेते हैं।

इस अंक में अवश्य अन्तर्विरोध नहीं है, किंतु राजा के राजकर्तव्य-ज्ञान, विरह और अनुताप ने मिलकर जिस एक अद्भुत करुण रस की सृष्टि की है, जगत् के साहित्य में वह अतुलनीय है।

——:o:——

# मोलिएर की नाटक-रचना

( श्री डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप )

मोलिएर अपने नाटकों को बहुत अधिक दृश्यों में विभक्त कर देता है। संस्कृत नाटकों में दृश्य बहुत कम होते हैं। एक अङ्क में प्रायः एक ही दृश्य होता है। संस्कृत नाटककार एक परम कोटि पर हैं तो मोलिएर दूसरी परम कोटि पर है। मोलिएर के नाटकों में दृश्यों का बाहुल्य है। प्रत्येक पात्र के प्रवेश से नया दृश्य बन जाता है। यह रीति नाटक को कुछ कृत्रिम सा बना देती है। कहा जाता है कि "अति" को छोड़ देना चाहिये। प्रत्येक पात्र के प्रवेश के साथ नया दृश्य बना देना अति है। यह युक्ति-युक्त भी नहीं है वरन् हानिकारक है। कल्पना कीजिए कि एक पात्र अपना कथन कह रहा है। उसका कथन अभी समाप्त नहीं हुआ कि दूसरा पात्र प्रवेश करता है। दूसरे पात्र के प्रवेश के साथ ही दृश्य बदल जाता है। परिणाम यह होता है कि पहले पात्र के कथन का एक भाग तो पहले दृश्य में है और उसी कथन का दूसरा भाग दूसरे दृश्य में रक्खा जाता है। यह कथन की एकता को भङ्ग कर देता है।

वाक्यों का आनुपूर्व्य असङ्गत हो जाता है। उनका पारस्परिक सम्बंध टूट जाता है। विचारों की शृङ्खला नहीं रहती।

मोलियर को वस्तु बहुत ढीली-ढाली होती है। एक तरह से वस्तु का अभाव ही समझिये। किंतु वस्तु का अभाव कोई बड़ा दोष नहीं। मोलियर के भाग्य, प्रहसन तथा नाटक अधिक संख्या में चारित्र्य तथा आचार के दर्शक हैं। (Comedy of Character and Manners). उनमें वस्तु की इतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी रूपक में। नायिका के बिना भी काम चल जाता है। जिनमें वस्तु पाई भी जाती है उनमें वह अधिकतर भिन्न-भिन्न उद्गम-स्थानों से ली गई है। स्पेन और इताली देश के कविओं और नाटककारों की रचनाओं के आधार पर मोलिएर ने अपने नाटक और प्रहसन लिखे हैं। वस्तु की उसने स्वयं कल्पना नहीं की। इसी से उस पर चोरी का दोष लगाया जाता है। यह दोष कालिदास और भवभूति पर भी लग सकता है। कालिदास ने शकुन्तला की कथा पद्मपुराण से ली है। भवभूति ने महावीर और उत्तर रामचरित की कथा रामायण से ली है। कवि लोग जहाँ-तहाँ से कथा ले लेते हैं। किन्तु अपनी प्रतिभा, कल्पना तथा कवित्व शक्ति से उस कथा के पीतल का सोना बना देते हैं। कथा का स्वयं निर्माण करना कवि के लिये आवश्यक नहीं। किन्तु कवि की रचना में निर्माण आए विना नहीं रह सकता जहाँ कवियों और नाटककारों ने अन्य ग्रन्थों से कथा ले कर रचना की है, जनता ने उनकी रचना को सराहा है। यदि रचना सरस है तो कवि की कीर्त्ति संसार भर में फैल

जाती है। यदि रचना सरस नहीं तो स्वयं निर्मित कथा के आधार पर भी बनाया हुआ काव्य तथा नाटक ख्याति प्राप्त नहीं कर सकता।

मोलिएर पर एक और दोष भी लगाया जाता है कि उसने दृश्य के दृश्य अन्य कवियों के नाटकों से चुरा लिए हैं। संस्कृत साहित्य में भी एक ऐसा उदाहरण मिलता है। भास-कृत चारुदत्त के दृश्य और श्लोक, बहुत संख्या में शूद्रक-विरचित 'मृच्छकटिक' में पाए जाते हैं। किन्तु इससे शूद्रक के यश को हानि नहीं पहुँची। मोलिएर ने भी अन्य कवियों के दृश्य अपनी रचनाओं में रख दिए हैं। पर उसका यश अब तक वैसा ही बना है। उसे सिद्धि प्राप्त हुई है। जब कार्य सिद्ध हो जाय, परिश्रम का फल मिल जाय तो आक्षेप निर्मूल हो जाता है। मोलिएर महाकवि है। फ्रांस देश का जगद्विख्यात नाटककार है। चार सौ बरस बीत जाने पर भी उस की कीर्ति संसार में फैली हुई है।

मोलिएर ने अपने समय के फ्रांस देश का चित्र खींचा है। उस समय के सामाजिक आचार-व्यवहार, ग्रामीण लोगों के भाव और स्वभाव, दरबारी उच्चकुल के राव ठाकुरों के व्यसन, राजनीति-कौशल, धर्म से पराङ्मुखता और आध्यात्मिक वार्ता में अश्रद्धा का यथार्थ नक़शा हमारे सामने रख दिया है। केवल पादरी-पात्रों का अभाव है। मोलिएर का निरीक्षण बहुत तीव्र और यथार्थ था। उसके नाटक इसकी सत्यता के साक्षी हैं। उसने तीन नियमों का अनुकरण किया है। वे नियम हैं—सत्य, प्रिय, प्रहास। जो कुछ

उसने लिखा, सत्य के आधार पर। लोभ से, डर से या विरोध के भय से उसने सत्य को कभी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। किन्तु सत्य को उसने ऐसे रूप में प्रकट किया जिससे वह प्रिय हो और हास्यजनक भी। मनुष्य जब संसार के प्राणिओं के जीवन पर दृष्टि डालता है तब उसे संसार में दुःख ही दुःख दिखाई देता है-' नानक दुखिया सब संसार।" तो यथार्थ निरीक्षण करनेवाले पुरुष की दृष्टि से यह दुःख और सन्ताप कब ओझल हो सकता है? मोलिएर को संसार की दशा का खासा ज्ञान था। उसने स्वयं भी सन्ताप सहन किए थे। उसे गृहस्थ आश्रम के सुख का अनुभव न हुआ था। वह विचारशील था। ऐसे विचारशील अनुभवी पुरुष की प्रकृति गम्भीर होती है। मोलिएर की प्रकृति भी गम्भीर थी। किंतु उसकी प्रतिभा में नैसर्गिक प्रहास की मात्रा थी। जिन भावों के आधार पर अन्य कवि करुणा के रस का प्रतिपादन करते हैं, दर्शकों या पाठकों की अश्रुधारा बहाते हैं, उन्हीं भावों के आधार पर मोलिएर प्रहसन रचता है; अपने पाठकों अथवा दर्शकों को इतना हँसाता है कि हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं। उसके परिहास का मूल कारण साधारण योजना नहीं है। कवि लोग परिहास के लिए प्रायः श्लेष का प्रयोग किया करते हैं। अथवा कपट प्रबंध द्वारा परिहास को स्थान मिलता है। मोलिएर के परिहास का कारण न श्लेष है, न कपट-प्रबंध। संसार में जब हम किसी अशिक्षित मनुष्य को कुलीन उच्च महापुरुषों के वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओं का अनुकरण करते देखते हैं तब स्वयं हँसी आ जाती

है। इसी प्रकार मोलिएर अपनी दृष्टि से परिस्थिति की इस प्रकार तसवीर खींचता है कि हँसी स्वयं आ जाती है। यदि रासीन अथवा कोरनेई इन्हीं नाटकों की रचना करता तो यह सब नाटक शोकान्त होते। मोलिएर की सहज शक्ति में यह गुण था कि वह शोकान्त नाटकों का भी प्रहसन में परिवर्तन कर देता था।

मोलिएर का प्रहास स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं। यही कारण है कि लगभग चार सौ बरस बीतने पर भी उसके नाटकों का प्रयोग होता है। वे जनता के मनोरञ्जन का उत्तम साधन हैं। प्रहास केवल चित्त-विनोद ही नहीं है, शिक्षाप्रद भी है। दार्शनिक खण्डन से जो कार्य्य सिद्ध नहीं होता वह उपहास से शीघ्र हो जाता है। युक्ति, प्रमाण, दार्शनिक विचारों का प्रभाव इने-गिने पुरुषों पर होता है। इन पुरुषों की संख्या बहुत परिमित होती है उन पर इस प्रभाव का गहरा रङ्ग नहीं चढ़ता। किन्तु उपहास सर्व-साधारण के हृदय पर चोट करता है। यह चोट बहुत गहरी लगती है। मोलिएर के हाथ में उपहास एक अमोघ अस्त्र था। उसने इस अमोघ अस्त्र का अनुचित स्थान में प्रयोग नहीं किया। उसने इस अस्त्र का निशाना अपने समय की कुरीतियों को बनाया। उसने जनता के जीवन को सरल, सुखमय और रसमय बनाने का प्रयत्न किया। उसके परिश्रम तथा गुण स्वीकृत हुए हैं। उसके नाम की गणना महापुरुषों में आदर के साथ की जाती है।

---

# आख्यायिका-विवेचन

( श्री श्यामसुन्दरदास )

आजकल संसार की प्राय: सभी भाषाओं में इन कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। कुछ लोग बड़े बड़े उपन्यासों का आकार और पृष्ठ-संख्या आदि देखकर घबरा जाते हैं और कुछ लोगों को घबराहट न होने पर भी इतना समय ही नहीं मिलता कि वे बड़े बड़े उपन्यास पढ़ सकें। ऐसे लोगों के सुभीते के लिये ही आख्यायिकाओं अथवा छोटी कहानियों का प्रचार हुआ है। कहानियाँ इतनी छोटी होती हैं कि किसी मासिक पत्र के एक ही अंक में, और और विषयों के साथ, कई कई आ जाती हैं। उपन्यासों और नाटकोंकी भाँति इनसे भी अच्छी नैतिक शिक्षा मिल सकती है और इनसे भी मनोरंजन होता है। यही कारण है कि आज कल ऐसी आख्यायिकाओं अथवा कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। इनका इतना बढ़ता हुआ प्रचार देखकर कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लग गए हैं कि कुछ

आख्यायिका या कहनी

दिनों में उपन्यास रह ही जायँगे और ये कहानियाँ ही उपन्यासों का स्थान ले लेंगी। पर हमारी समझ में यह आशंका का निर्मूल ही है क्योंकि उपन्यास का काम आख्यायिकाओं से कभी निकल ही नहीं सकता। आख्यायिका के छोटे क्षेत्र में जीवन की उतनी अधिक विवेचना हो ही नहीं सकती, जितनी उपन्यासमें होती है। उसमें पात्रों के चरित्र का उतना अच्छा विकास और चित्रण भी नहीं हो सकता, जिस के लिये उपन्यासों का इतना महत्त्व और आदर है। हिन्दी में बहुत बड़े उपन्यासों का तो अभाव ही है, पर फिर भी हम कह सकते हैं कि परीक्षा-गुरु अथवा प्रेमाश्रम आदि में जीवन के जितने चित्र खींचे गए हैं, उतने चित्र एक क्या कई आख्यायिकाओं में भी नहीं आ सकते। जिस प्रकार संसार में मनुष्यों के व्यवहारों और कार्यों आदि का निरीक्षण करने में हमें बहुत अधिक समय लगता है उसी प्रकार पुस्तकों में भी उनसे परिचित होने के लिए अधिक समय लगाना आवश्यक और अनिवार्य है। छोटी कहानियों में उनके पात्रों का और हमारा बहुत ही थोड़े समय के लिये साथ होता है और हमें उनके बहुत ही थोड़े कार्यों और व्यवहारों आदि का परिचय मिलता है। हमारे चित्त पर उनके अध्ययन से जो प्रभाव पड़ता है, वह भी अपेक्षाकृत बहुत ही अल्प और थोड़े महत्त्व का होता है। जब तक जीवन की जटिलताएँ रहेंगी और जब तक लोगों का स्थान आख्यायिकाएँ नहीं ले सकेंगी। पर इस समय हम इस बात का विचार करने नहीं बैठे हैं कि उपन्यास और आख्यायिका में से कौन श्रेष्ठ

अथवा अधिक स्थायी है। हम तो उपन्यास की भाँति आख्यायिका को भी गद्य काव्य का एक अङ्ग मानते हैं और इसी दृष्टि से उस का विवेचन करते हैं।

**आख्यायिका का रूप**

सब से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि आख्यायिका या छोटी कहानी कहते किसे हैं। आजकल जैसी कहानियों का प्रचार बढ़ रहा है, उनको देखते हुए हम कह सकते हैं कि आख्यायिका ऐसे गद्य कथानक को कहते हैं, जो घण्टे दो घण्टे के अन्दर ही पढ़ कर समाप्त किया जा सके, अर्थात् ऐसी कहानी जो थोड़े से अवकाश के समय एक ही बैठक में समाप्त हो सके। आख्यायिका कभी उपन्यास का संक्षिप्त रूप नहीं होती, क्योंकि जो बातें किसी उपन्यास के सौ दो सौ पृष्ठों में आ सकती हैं, वे दस बीस पृष्ठों की किसी आख्यायिका में नहीं आ सकतीं। प्रायः सभी देशों में वृद्धा स्त्रियाँ संध्या समय घर में बैठ कर बालकों को अनेक प्रकार की शिक्षाप्रद अथवा कुतूहलवर्द्धक कहानियाँ सुनाया करती हैं। आजकल की आख्यायिकाएँ भी एक प्रकार से उन्हीं कहानियों का संशोधित और परिमार्जित रूप हैं। आजकल भी मासिक-पत्रों आदि में अनेक ऐसी कहानियाँ निकला करती हैं, जो पुराने ढङ्ग की कहानियों और आधुनिक ढङ्ग की आख्यायिकाओं के बीचकी होती हैं। आख्यायिकाओं के प्रचार के साथ ही साथ लोग यह समझने लगे हैं कि आख्यायिकाएँ लिखना भी एक कला है और उस के लिए भी किसी विशेष कौशल की आवश्यकता

है। जिस प्रकार उपन्यासों और आख्यायिकाओं के विस्तार में अंतर है, उसी प्रकार उनके उद्देश्य और वस्तु-विन्यास आदि में भी अन्तर है।

आख्यायिका-रचना के सिद्धांत

आख्यायिका का विषय ऐसा होना चाहिए जिसका उसकी संकुचित सीमा के अन्दर भी भली भाँति विकास और निर्वाह हो सके। इस विषय में पाठकों की रुचि का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिए। कोई आख्यायिका समाप्त करने के उपरांत पढ़ने वाले की यह सम्मति होनी चाहिए कि यदि इस आख्यायिका का और अधिक विस्तार किया जाता, तो उससे कोई लाभ न होता। तात्पर्य यह कि किसी आख्यायिका से पाठकों के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि जो कुछ कहा गया है, वह ठीक और पर्याप्त है। इस में अनावश्यक बातें नहीं आने पाई हैं और इतने से ही आख्यायिका का उद्देश्य सिद्ध हो गया है। पर इस का यह तात्पर्य नहीं है कि आख्यायिका में किसी एक ही अथवा क्षणिक घटना का ही उल्लेख हो। उसमें साहित्यिक रूप में जीवन के एक से अधिक अंशों के चित्र होने चाहिएँ और इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि आख्यायिका की सारी उत्तमता उसके कहने के ढङ्ग पर निर्भर करती है। उसमें चरित्र या अनुभव के किसी एक ही पक्ष का विचार अथवा प्रदर्शन हो सकता है, अथवा उतनी अधिक और व्यापक बातें भी बतलाई जा सकती हैं, जितनी अनेक साधारण उपन्यासों में भी नहीं पाई जाती। पर हाँ, यदि

किसी छोटी सी आख्यायिका में किसी व्यक्ति के सारे जीवन की सभी घटनाओं को भरने का उद्योग किया जायगा, तो वह पाठकों के लिये अरुचिकर होगा और पठित समाज में उसका आदर न हो सकेगा। इसीलिये हमने कहा है कि आख्यायिका की उत्तमता उस के विषय तथा प्रतिपादनशैली पर ही निर्भर रहती है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसके उद्देश्य, साधन और परिणाम आदि में सामंजस्य होना चाहिये। आख्यायिका का उद्देश्य अथवा आधार भूत सिद्धान्त एक ही होना चाहिये और आदि से अन्त तक उस उद्देश्य या सिद्धान्त का ध्यान रखकर और उसी का युक्तियुक्त परिणाम उत्पन्न करने के विचार से आख्यायिका लिखी जानी चाहिए। उपन्यासों में इतनी अधिक बातें होती हैं कि उनसे कोई एक मुख्य सिद्धान्त या परिणाम निकालना प्रायः कठिन हो जाता है। परन्तु आख्यायिका के सम्बन्ध में यह बात नहीं होनी चाहिये। आख्यायिका में तो मुख्य विचार केवल एक ही, और वह भी बहुत ही प्रत्यक्ष या स्पष्ट, होना चाहिए। बीच में कोई ऐसी बात नहीं आनी चाहिए जिससे पढ़ने वाले का ध्यान उस मुख्य विचार से हटकर किसी दूसरी ओर चला जाए। यदि किसी आख्यायिका का उद्देश्य और परिणाम दोनों बिलकुल एक हों तो समझ लेना चाहिये कि उसके लेखक को अच्छी सफलता हुई है।

पर आख्यायिका लिखने में उद्देश्य और परिणाम की यह एकता प्रतिपादित करना ही सब से अधिक कठिन काम है। इसी कठिनता का ध्यान रखते हुए कुछ विद्वानों ने यह सिद्धांत स्थिर

किया है कि बड़े बड़े उपन्यासों की अपेक्षा छोटी छोटी आख्यायिकाएँ लिखना और भी अधिक कठिन काम है। उसमें अधिक कौशल की आवश्यकता है। एक विद्वान् का मत है–"कुशललेखक बहुत अच्छी तरह विचार करके यह निश्चित् करता है कि पाठकों के हृदय पर मेरी रचना का अमुक प्रकार का प्रभाव पड़े, और तब उसी प्रभाव या परिणाम पर ध्यान रखकर वह ऐसी घटनाओं की रचना करता है, जो अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने में सब से अधिक सहायक होती हैं। यदि उसके प्रारंभिक वाक्य से ही उस परिणाम का आरंभ न हो, तो समझना चाहिए कि पहले ही ग्रास में मक्षिका-पात हो गया। सारी रचना में एक भी ऐसा शब्द न होना चाहिए जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से पाठकों को अभीष्ट परिणाम अथवा प्रभाव की ओर अग्रसर न करता हो। इतने ध्यान, इतने कौशल और इतने साधनों से अन्त में जो चित्र प्रस्तुत होता है, वही विचारशील और कलाकुशल प्रेक्षक को पूर्ण रूप से संतुष्ट कर सकता है। बस यही कहानी का शुद्ध और स्वच्छ रूप है और यह रूप उपन्यास को प्राप्त नहीं हो सकता।" अच्छी आख्यायिकाएँ लिखने में इस परामर्श का बहुत कुछ उपयोग हो सकता है।

आख्यायिका में थोड़े से ही स्थान में कोई बड़ी बात बतलानी पड़ती है, इस लिये उसकी रचना की सभी बातों पर विशेष ध्यान देने की अवश्यकता होती है। उसमें सभी अनावश्यक और निरर्थक बातें छोड़ दी जाती हैं, इस बात का ध्यान

रखा जाता है कि किसी बात का आवश्यकता से कम या अधिक विस्तार न हो, घटनाओं का क्रम बिलकुल ठीक और गठा हुआ हो, और उसके सभी भिन्न भिन्न खंड या अङ्ग सारी आख्यायिका के अनुरूप और अधीन हों। उपन्यास में तो रचना-संबंधी दोष कहीं कहीं छिप भी जाते हैं, पर आख्यायिका में वे बहुत ही स्पष्ट दिखाई देते हैं। आख्यायिका के संबंध में यही साधारण सूचनाएँ हैं, जिनका ध्यान रखना उपयोगी हो सकता है। नहीं तो उसकी रचना का कोई निश्चित नियम नहीं बतलाया जा सकता। नियम आवें कहाँ से ? एक तो रचना-प्रणाली का संबंध विषय और उद्देश्य से है, और दूसरे किसी कला से संबंध रखने वाली छोटी छोटी बातें बतलाना या नियम निर्धारित करना बहुत ही कठिन होता है क्योंकि कला सम्बन्धी छोटी छोटी बातों का ठीक ठीक अनुमान तो उसका पूरा स्वरूप देख कर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह बतलाना भी कठिन है कि किस उद्देश्य या लक्ष्य पर ध्यान रख कर आख्यायिका लिखी जानी चाहिए।

उद्देश्य या लक्ष्य

यदि उसकी रचना से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों का ध्यान रखा जा सके, तो फिर प्रत्येक उद्देश्य और प्रत्येक साधन से आख्यायिका लिखी जा सकती है। उससे पाठकों को हँसाया भी जा सकता है और रुलाया भी जा सकता है। उनको चकित भी किया जा सकता है और चक्कर में भी डाला जा सकता है। उनको मनो-

विज्ञान के भी कुछ सिद्धांत बतलाए जा सकते हैं और प्रेम का प्रभाव या परिणाम भी दिखलाया जा सकता है। प्राचीन काल का दृश्य भी उनके सामने रखा जा सकता है और भविष्य का चित्र भी अंकित किया जा सकता है। कोई रोमांचकारिणी अथवा शिक्षाप्रद घटना भी चित्रित की जा सकती है और जीवन का कोई अंश भी चित्रित किया जा सकता है। अपना कोई अनुभव भी बतलाया जा सकता है और देश अथवा समाज की अवस्था भी बतलाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि सैकड़ों हजारों विषयों पर, आख्यायिकाएँ लिखी जा सकती हैं। यदि आप चाहें तो पहले अपने मन में आख्यायिका की कोई वस्तु निर्धारित कर लें और तब उसके अनुरूप चरित्र आदि ला कर उसमें आरोपित करें। अथवा आप कोई चरित्र चुन कर उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास भी कर सकते हैं। अथवा यदि आपके मन में कोई विचार या सिद्धांत उद्भूत हुआ हो, तो उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण भी कर सकते हैं। आख्यायिका के सम्बन्ध में यही सब बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उस की शेष अन्यान्य बातें प्रायः उपन्यास की अन्यान्य बातों से ही मिलती-जुलती हैं।

---

# उत्साह

## ( श्री रामचन्द्र शुक्ल )

दुःख की कोटि में जो स्थान भय का है, आनन्द की कोटि में स्थान उत्साह का है। भय से हम आगामी दु ख के निश्चय से दुखी और प्रयत्नवान् भी होते हैं। मूल दुःख से भय की विभिन्नता प्रयत्नावस्था और अप्रयत्नावस्था दोनों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है, पर आगामी सुख के निश्चय का प्रयत्नशून्य आनन्द मूल आनन्द से कुछ इतना भिन्न नहीं जान पड़ता। यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठक हो जाय, कुछ भी हाथ पैर न हिलावे, तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की संज्ञा दी जायगी, पर यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप आनन्दित होकर बैठे रहें वा थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा, जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिए प्रसन्न मुख इधर से उधर दौड़ते दिखाई देंगे। प्रयत्न या चेष्टा उत्साह का अनिवार्य्य लक्षण है। प्रयत्न-

मिश्रित आनन्द ही का नाम उत्साह है। हँसना, उछलना, कूदना आदि आनन्द के उल्लास की उद्देश्य-विहीन क्रियाओं को प्रयत्न नहीं कह सकते। उद्देश्य से जो क्रिया की जाती है उसी को प्रयत्न कहते हैं। जिसकी प्राप्ति से आनन्द होगा उसकी प्राप्ति के निश्चय से उत्पन्न जिस आनन्द के साथ हम प्राप्ति के साधन में प्रवृत्त होते हैं उसे तो उत्साह कहते ही हैं, उसके अतिरिक्त सुख के निश्चय पर उसके उपभोग की तैयारी या प्रयत्न जिस आनन्द के साथ करते हैं उसे भी उत्साह कहते हैं। साधन-क्रिया में प्रवृत्त होने की अवस्था में प्राप्ति का निश्चय प्रयत्नाधीन या कुछ अपूर्ण रहता है। उपभोग की तैयारी में प्रवृत्त होने की अवस्था में प्राप्ति का निश्चय स्वप्रयत्न से स्वतन्त्र अतः अधिक पूर्ण रहता है। पहली अवस्था में यह निश्चय रहता है कि यदि हम कार्य करेंगे तो यह सुख प्राप्त होगा। दूसरी में यह निश्चय रहता है कि वह सुख हमें प्राप्त होगा, अतः हम उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में नहीं बल्कि उपभोग के प्रयत्न में प्रवृत्त होते हैं। किसी ने कहा कि तुम यह काम कर दोगे तो तुम्हें यह वस्तु देंगे। इस पर यदि हम उस काम में लग गये तो वह हमारी प्राप्ति का प्रयत्न है। यदि किसी ने कहा कि तुम्हारे अमुक मित्र आ रहे हैं और हम प्रसन्न होकर उनके ठहरने आदि की तैयारी में इधर से उधर दौड़ने लगें तो यह हमारा उपभोग का प्रयत्न या उपक्रम है। कभी कभी इन दोनों प्रयत्नों की स्थिति पूर्वापर होती है, अर्थात् जिस सुख की प्राप्ति की आशा से हम उत्साह-पूर्ण प्रयत्न करते हैं उसकी प्राप्ति के अत्यन्त निकट आ

जाने पर हम उसके उपभोग के उत्साह-पूर्ण प्रयत्न करते हैं उसकी प्राप्ति के अत्यन्त निकट आ जाने पर हम उसके उपभोग के उत्साह पूर्ण प्रयत्न में लगते हैं, फिर जिस क्षण वह सुख प्राप्त हो जाता है उसी क्षण से उत्साह की समाप्ति और मूल आनन्द का आरम्भ हो जाता है।

इस विवरण से मन में यह बात बैठ गई होगी कि जो आनन्द सुख प्राप्ति से साधन-सम्बन्ध या उपक्रम-सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओं में देखा जाता है उसी का नाम उत्साह है। पर मनुष्य का अन्तःकरण एक है इससे यदि वह किसी एक विषय में उत्साह-पूर्ण रहता है तो कभी-कभी अ य विषयों में भी उस उत्साह की झलक दिखाई दे जाती है। यदि हम कोई ऐसा कार्य्य कर रहे हैं जिससे आगामी सुख का पूरा निश्चय है तो हम उस कार्य्य को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, साथ अन्य कार्य्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं। यह बात कुछ उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोवेगों में भी बराबर देखी जाती है। यदि हम किसी पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात पूछता है तो उस पर भी हम झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट-द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। इस क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संग्रह करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भावों को ग्रहण

करते। यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह प्रकट कर सकते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो सकते हैं। इस व्यापार को हम मनोवेगों द्वारा स्वरक्षा का प्रयत्न कह सकते हैं। इसी का विचार करके सलाम करने वाले लोग हाकिमों से मुलाक़ात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिज़ाज पूछ लिया करते हैं।

उत्साहयुक्त कर्म के साथ ही अनुकूल फल का आरम्भ है, जिसकी प्रेरणा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। यदि फल दूर ही पर रक्खा दिखाई पड़े, उसके परिज्ञान के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ साथ लगा हुआ न मालूम पड़े तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे किसी फल के अनुभूत्यात्मक अंश का किञ्चित् संयोग उसी समय से होने लगता है जिस समय उसकी प्राप्ति की सम्भावना विदित होती है और हम प्रयत्न में अग्रसर होते हैं। यदि हमें यह निश्चय हो कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो हमारे चित्त में उस निश्चय का फल-स्वरूप एक ऐसा आनन्द उमड़ेगा जो हमें बैठा न रहने देगा। हम चल पड़ेंगे और हमारे अङ्ग की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। इस प्रफुल्लता के बल पर हम कर्मों की उस शृङ्खला को पार कर सकते हैं जो फल तक पहुँचाती है। फल की इच्छामात्र से जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्द-शून्य होने के कारण

स्थायी नहीं होगा। कभी-कभी उसमें इतनी आकुलता होगी कि वह उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जायगा। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को बहुत दूर नीचे तक गई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने की खान मिलेगी। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि इस सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण के साथ एक प्रकार का संयोग अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और शरीर अधिक सचेष्ट हो गया तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलेगा, एक एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ खान तक पहुँचेगा। उसके प्रयत्न काल को भी फल प्राप्ति काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट नीचे पहुँच जायँ। उसे एक एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हार कर लौट जाय अथवा अड़बड़ा कर मुँह के बल गिर पड़े। इसी से कर्म में ही फल के अनुभव का अभ्यास बढ़ाने का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने फलासङ्ग-शून्य कर्म के सिद्धान्त द्वारा इस प्रकार दिया है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

कर्म से पृथक् फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि काम बहुत कम करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण के लाख समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक कुम्हड़ा देकर पुत्र की कामना करने लगे, चार आने रोज़ का अनुष्ठान बैठाकर व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय और न जाने क्या-क्या चहाने लगे। प्राप्त या उपस्थित वस्तु में आसक्ति होनी चाहिए। कर्म सामने उपस्थित रहता है इससे उसका लक्ष्य ही काफ़ी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना मिलती है या जो आनन्द कर्म करते समय मिलता है वही उत्साह है। कर्म के मार्ग पर आनन्द-पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा न कर्म करने वाले की अपेक्षा, अधिक अवस्थाओं में अच्छी रहेगी क्योंकि एक तो कर्मकाल में जितना उसका जीवन बीता वह सुख में बीता; इसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने यह प्रयत्न नहीं किया। लोग कह सकते हैं कि जिसने निष्फल प्रयत्न करके अपनी शक्ति और धन आदि का कुछ ह्रास किया उसकी अपेक्षा वह अच्छा जो किनारे रहा। पर फल पहले से कोई बना-बनाया तैयार पदार्थ नहीं होता। अनुकूल साधन कर्म के अनुसार उसके एक-एक अङ्ग की योजना होती है। इससे बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित किये हुए उपयुक्त

साधन ही का नाम प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्रिय प्राणी बीमार है। वह वैद्य के यहाँ से जबतक औषध ला-लाकर रोगी को देता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता है तब तक उसके चित्त में जो सन्तोष रहता है वह उसे कदापि न प्राप्त होता यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की अवस्था में भी वह उस आत्मग्लानि के कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच सोच कर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया। कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के जो महत्कर्म होते हैं उनके अनुष्ठान में एक ऐसा अपार आनन्द भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फल स्वरूप प्रतीत होते हैं। अत्याचार को दमन करने तथा क्लेश को दूर करने का प्रयत्न करते हुए चित्त में जो उल्लास और सन्तोष होता है वही लोकोपकारी कर्म्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय, बल्कि उसी समय से थोड़ा करके मिलने लगता है जब वह कार्य्य आरम्भ करता है।

आशा और उत्साह में जो अन्तर है उसे भी विचार लेना चाहिए। आशा में सुख के निश्चय की अपूर्णता के कारण चेष्टा नहीं होती, पर उत्साह में क्रिया वा चेष्टा का होना ज़रूरी है। लोग बैठे-बैठे या लेटे-लेटे भी आशा करते हैं पर उत्साहित होकर कोई पड़ा नहीं रहता।

# आशा

( पं० बालकृष्ण भट्ट )

हमारे यहाँ के ग्रंथकारों ने 'काम' को मनसिज कहा है। यदि मनसिज-शब्द का अर्थ केवल इतना ही लिया जाय कि "मन में उत्पन्न हुए भाव", तो हमारी समझ में 'आशा' से बढ़कर मीठा फल देने वाली हृदय की विविध दशाओं में से दूसरी कोई दशा नहीं हो सकती। यद्यपि हमारे यहाँ कवियों ने 'स्मर' की दस दशा मानी हैं, किंतु उस रास्ते को छोड़ मोटे ढंग पर ध्यान दें और मान लें कि 'काम' या तो उस पशुबुद्धिरूपी मोहांधकार का नाम है, जो मनुष्य के लज्जा, नम्रता आदि गुणों की मीठी रोशनी का नाश कर देता है, और जो इस दशा में मनुष्य-जाति का कलंक है, अथवा संसार के सब संभव और असंभव प्रेम-मात्र का नमूना है, तब भी हम यह नहीं कह सकते कि इन ऊपर लिखे हुए काम के दो रूपों के पाश में उतने लोग फँसे हों, जितने स्वेच्छया आनन्द-पूर्वक अपने को आशा के पाश में बाँधे हुए हैं। 'काम' एक रोग है, जिससे चाहे थोड़ा-सा सुख भी मिलता हो, पर उस रोग के रोगी

इसकी दवा अन्यत्र ही ढूँढते हैं। पर 'आशा' को देखिये, तो वह स्वयं एक ऐसे बड़े भारी रोग की दवा है, जिसकी दूसरी दवा सोचना असंभव है। यह रोग नैराश्य है, जिससे दारुणतर क्लेश की दशा मनुष्य के चित्त के लिये हो नहीं सकती। इस वास्ते जो हमारे यहाँ की कहावत है कि—

"आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।"

यह हमारी समझ में नहीं आता। यदि वर्ष के भिन्न-भिन्न ऋतुओं की तरह मनुष्य के हृदय में भी तरह-तरह की दशाओं का दौरा हुआ करता है और उसमें भी ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर इत्यादि ऋतु एक दूसरे के बाद आते हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि नैराश्य के विकट शीतकाल की रात्रि के बाद आशा ही रूपी ऋतु-राज के सूर्य का उदय होता है। हृदय यदि प्रमोद-उद्यान है, तो उसका पूर्ण सुख आशा ही रूपी वसंत-ऋतु में होता है।

क्या ईश्वर की महिमा इसमें नहीं देखी जाती कि दुखी-से-दुखी जनों का सर्वस्व चला जाने पर भी आशा से उनका साथ नहीं छूटता। यदि मान और प्रतिष्ठा बहुत बड़ी चीज़ है—जिसको उसके भक्त, धन के चले जाने पर भी, अपने गाँठ में बाँधे रहते हैं—तो सोचना चाहिए कि वह कितनी प्रिय वस्तु होगी, जो दैवात् प्रतिष्ठा भंग होने पर भी मनुष्य के हृदय को ढाढ़स और आराम देती है। आशा को यदि मनुष्य के जीवन-रूपी नौका का लंगर कहें, तो ठीक होगा, क्योंकि जैसे बड़े-से-बड़े तूफान में जहाज लंगर के सहारे स्थिर और सुरक्षित रहता है, वैसे ही मनुष्य भी अपने

जीवन में घोर विपदाओं को झेलता हुआ आशा के सहारे स्थिर और निश्चलमना बना रहता है। मनुष्य के जीवन में कितना ही बड़ा-से-बड़ा काम क्यों न हो, उसके करने की शक्ति का उद्भव या प्रसव-भूमि यदि इस आशा ही को कहें, तो कुछ अनुचित न होगा, क्योंकि किसी बड़े काम में आशा से बढ़कर बुद्धिमत्ता की अनुमति देनेवाला और कौन मन्त्री होगा? मनुष्य के संपूर्ण जीवन को बुद्धिमानों ने विविध भावनाओं के अभिनय की केवल रङ्गभूमि माना है। परदे के पीछे से धीरे-धीरे वह शब्द बतला देनेवाला, जिससे हम चाहे जो पात्र बने हों और चाहे जिस रस के नाटक का अभिनय अपने चरित्र द्वारा करते हों, उस में दृढ़ता-पूर्वक लगे रहते हैं, इस आशा के अतिरिक्त दूसरा और कौन उत्तेजक (Prompter) है? और भी यदि संसार को भिन्न-भिन्न कलह की रण-भूमि मानें, तो उस अपरिहार्य रण-भूमि में घायलों के घाव पर मरहम रखने वाला जर्राह आशा ही को कहना चाहिए।

जिस किसी ने संसार में आकर किसी बात का यत्न न किया हो और किसी वस्तु की खोज में अपने को न डाल दिया हो, उससे बढ़कर व्यर्थ और नीरस जीवन किसका होगा? जब यह बात है, तो बतलाइये, किसी प्रकार के प्रयत्न-मात्र की जान आशा को छोड़ किसी दूसरे को कह सकते हैं? क्योंकि कैसे सम्भव है कि मनुष्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के प्रयत्न में लगा हो और आशा से उसका हृदय शून्य हो? किसी काम के अभिलषित परिणाम में अमृत का गुण देना यह शक्ति सिवा आशा के

और किस में है ? संसार में जो कुछ भलाई हुई है या होगी, उस सब का मूल सदा प्रयत्न है और इस प्रयत्न की जान आशा है।

क्या झूठी आशा से भी किसी को कुछ दुःख हो सकता है ? क्या झूठी आशा से नैराश्य अच्छा है ? नहीं, नहीं सच पूछिए, तो ऐसी कोई वस्तु संसार में है ही नहीं जिससे नैराश्य अच्छा हो. बल्कि नैराश्य से बढ़ कर बुरी दशा मन के वास्ते कोई है ही नहीं। यदि आशा केवल मृग-तृष्णा ही है, तब भी वह ना उम्मेदी से अच्छी है। इस आशा-रूपी प्रबल वायु से हृदय-रूपी सागर में जो दूर तक की तरंगें उठती हैं. उन तरङ्गों की अवधि नज़र में नहीं आ सकती। संसार मात्र इस आशा की रस्सी से कसा हुआ है। इसे हम कई तरह पर सिद्ध कर चुके हैं।

अब आगे चलिए, स्वर्ग या वैकुण्ठ क्या है ? मनुष्य के हृदय में भाँति-भाँति की लालसा और आकाँक्षा का केवल साक्षी-मात्र। वास्तव में स्वर्ग है या नहीं, इसका तर्क-वितर्क इस समय यहाँ हम नहीं करते। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्वर्ग शब्द की सत्ता ही मनुष्य के लिये प्रबल आशा का प्रमाण है, क्योंकि जब इस बात को सोच कर चित्त दुःखी होता है कि अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा ठीक न्याय चाहिये, वैसा इस संसार में नहीं देखते, तो उसी चित्त के लिये स्वर्ग के सुखों के द्वारा समझानेवाली आशा को छोड़ और दूसरा कौन गुरु है ? आशा ही एक हमारा ऐसा सच्चा सुहृद् है, जो लड़कपन से अन्त काल तक साथ देता है, और आशा ही के द्वारा उत्पन्न वे

भाव हैं, जो हम को मरने के बाद की दशा के बारे में भी सोचने को रुजू करते हैं।

हमको कुछ ऐसा मालूम होता है कि अपने में आशा को दृढ़ता चाहना ही मनुष्य के हृदय की प्राकृतिक दशा है। ध्यान दे कर सोचिए तो नैराश्य की अवस्था मनुष्य के जीवन में केवल क्षणिक है। नैराश्य के भाव मन में उदय होते ही चट आशा का अवलम्बन मिल जाता है। कितने थोड़े समय के लिये आदमी नैराश्य को जी में जगह देता है, और कितनी जल्द फिर उसको निकाल कर बाहर फेंक देता है। सिर्फ यही बात इसका पक्का प्रमाण है कि प्राकृतिक हित मनुष्य का आशा ही में है। आशा ही वह पुष्टई है, जिसे खाकर आप जो चाहें, वह काम करिये, शिथिलता और आलस्य आपके पास न फटकने पावेगा, क्योंकि यह असम्भव है कि आशा मन में हो, फिर भी मनुष्य शिर नीचा किए हुए रंज में बैठा रहे। आशा की उत्तेजना यदि मन में भरी है, तो ऐसी कातर दशा आने ही न पावेगी। इससे यदि आशा ही को आदमी की ज़िंदगी का बड़ा भारी फर्ज़ मानें, तो कुछ अनुचित नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि आशा ही के विद्यमान रहने पर हम अपने सब फर्ज़ों को पूरी-पूरी तरह से अदा कर सकते हैं। पर इसी के साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि सामान्य आशा को अपने जीवन की दृढ़ता के लिये अपना साथी रखना और बात है, पर किसी एक बात की प्राप्ति की आशा पर अपने जीवन-मात्र के सुख को निर्भर मानना दूसरी बात है।

पहले रास्ते पर चलने से चाहे जीवन में हमें सुख का सामना हो या दुःख का, हमें दोनों में एक-सा दृढ़ है, किन्तु दूसरे रास्ते पर चलने में यह चूक होगी कि हमने जिस आशा पर अपना बिलकुल सुख छोड़ रक्खा है, वह आशा यदि टूट गई, तो हमारी हानि ही हानि है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ ईश्वर ने अनन्त ऐसे रास्ते मनुष्य की प्रकृति को दृढ़, सहनशील और विमल करने के खोले हैं, उन रास्तों में आशा ही पर चल कर मनुष्य शनैः शनैः अपना कार्य सिद्ध करता है। इस कारण मनुष्य को अपनी भलाई के लिये आशा से बढ़ कर और क्या हो सकता है और मित्रगणों को भी यदि आवश्यकता हो, तो आशा से बढ़ कर और कौन भेंट दी जाती है? यदि अन्तकाल में चिकित्सक आशा ही के द्वारा रोगी को प्राणदान तक कर सकता है, तो इससे बढ़ कर गुण आप किस चीज़ में पाइएगा। (सारांश यह कि इस संसार में अपनी और दूसरे की भलाई का परम आधार आशा ही है, और परलोक तो, हमने जैसा ऊपर कहा, आशा का रूप ही है। अस्तु, हम भी यही आशा करते हैं कि यह लेख आप लोगों को कुछ-न-कुछ रोचक हुआ होगा।)

# कलाकार

( श्री माखनलाल चतुर्वेदी )

कलाकार भूतकाल को, सुनहले भूतकाल को भी, अपनी अन्तर की आँखों की छोरों से इस लिए छूता है, कि वह अपनी आकांक्षा का एक माप बना ले और उसको उठाकर जब भविष्य की ओर रख दे और उससे कुछ आगे अपनी कला-विन्दुओं की सीमा खींच दे, तो विश्व में युग से होड़ लेती हुई अपनी एक अमर पीढ़ी दिखाई दे। यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट काम आ जाया करते, तो कला के स्वर्ग को हम पत्थरों और कागज़ों से छू सकते थे। स्वप्नों को पकड़ने का पथ तो अभ्यन्तर के स्वप्न-देश ही में से है। हवाई जहाज़ पर चढ़ कर, जिस तरह हम हिमालय, विन्ध्य और सातपुड़ा की ऊँचाई-नीचाई से परे हो जाते हैं, और उच्चता की एकरसता में, एकरसता की उच्चता की दुनिया में पहुँच कर, उसे पार करते होते हैं, उसी तरह जब हम अपने स्वप्नों के जागरण में होते हैं, तब हम अपनी पीढ़ियों के ऐसे वायुयान बन जाया करते हैं।

ध्वजा की पीढ़ी 'अँगुलियों की गिनती' पर होती है। गंगा

से कृष्णा की दूरी ही की तरह, एक क्षुद्र की, दूसरे क्षुद्र से दूरी होती है, किन्तु उनके इरादों के 'अपनी पर आने' का सेतु बँध जाने पर, ज़माना का ज़माना, इस पार से उस पार, और उस पार से इस पार होता रहता है। उस कला का वाहन, कलाकार का विज्ञापन चिपकाये रहने वाला शरीर नहीं है, न उनका वाहन विलास है, न उल्लास, न सिसक है, न मुसुक। उसका वाहन तो वह प्रेरणा है, जिस पर वह अपने सम्पूर्ण इरादों और स्वप्नों को लेकर बैठ जाती है, और तिस पर भी वह समय की दौड़ से आगे बढ़ जाया करती है। समय के साथ रहने पर तो सूरज और चाँद, अपने प्रकाश से उसे हरा कर बड़े बन जाने के अधिकारी हो जाते हैं। इसीलिए कलाकार, राहगीर का समय काटने की वस्तुमात्र नहीं होता, वह समय का पथ-प्रदर्शक, राहगीर होता है।

कलाकार कैसे जाने कि उसका दिलवर उसका अपना है? विश्व-निर्माता ने उसे अपनाया है। निर्माता की तान में, अपनी तान मिल जाने की पहिचान तो रही है न, कि भक्त-भावन की तरह भक्त भी निर्माता हो। तभी तो मानव-दम्भ की कुटिलता और ग्रंथों की जटिलता के परे, 'सोहऽमस्मि' के कुछ मानी रह जावेंगे। निर्माण जिसका बचपन हो, निर्माण जिसका अध्ययन, निर्माण जिसका चिन्तन हो, निर्माण जिसकी कमाई, और निर्माण ही जिसका दर्द और आनन्द हो, विषाद और विनोद हो, तब उसका निर्माण ही उसकी चिरसमाधि क्यों न हो? उसे निर्माण की समाधि न कहेंगे, यह तो पंचत्त्व को प्राप्त होकर भी समाधि के द्वारा

पीढ़ियों में, प्रेरणा के रूप में जीवित रहने वाला, निर्माण ही कहा जावेगा। उस दिन भी निर्माता की ज़िम्मेवारी पूरी करने वाला, निर्माता की वह अपनी चीज़ होगी।

रोज़ उत्थान के अभाव और पतन की पराकाष्ठा से भरा जाने वाला हमारा पेट, जीवन के प्रकटीकरण की भूख अनुभव ही नहीं करता, किन्तु जो इस भूख को अनुभव करते हैं, उनका एकान्त, अस्तित्व की बस्ती है; और उसकी निकम्मी घड़ियाँ, कला के अस्तित्व का श्वासोच्छ्वास हैं। फ़ुरसत की घड़ियाँ कुछ लोगों की सनक की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की लाचारी की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की काहिली की घड़ियाँ; वे कुछ लोगों की नाश की भी घड़ियाँ हैं। फ़ुरसत की घड़ियाँ, और वैसी ही फ़ुरसत की घड़ियाँ कला के अस्तित्व की घड़ियाँ हैं, कला के विकास की घड़ियाँ हैं, कला के खिलवाड़ की घड़ियाँ हैं। वहाँ कला पुरुषार्थवान होती है, और पुरुषार्थ, कला के चित्रों का रंग बन जाता है।

उद्योगी विश्व, कहीं इन निकम्मों को भी जीने दो। रेल-गाड़ी के पथिको, सकल्पों के आने-जाने के लिए भी ज़मीन चाहिये। वे-फ़ुरसत की ज़िन्दगी में कलाकार विश्व को देखने, देखते रहने, और देखते-देखते पुनः देखते रहने के लिए, आँखों और आडम्बरों से बाँध कर रक्खा जाता है। उस समय अपने को और अपनेपन को देखने का, उसे अपने को नहलाने और सुहलाने का, वह अवसर ही नहीं पाता। फ़ुरसत की घड़ियाँ, कलाकार को अस्तित्व की आराधना है, आराध्य की पूजा है, आत्म-देव का

अभ्यर्थना है। वे उसके आत्म-संकीर्तन की नहीं, विश्व-संकीतन के लिए आत्म-दर्शन की घड़ियाँ हैं। उस समय उसकी खुली आंखें, मुँदे जगत की गुत्थियाँ सुलझाया करती हैं और मुँदी आंखें, खुले जगत में विश्व के परम सत्य का रंग भरती रहती हैं। उस समय वे आंखें, जिस लोक को देखती हैं, उस लोक में उस कला कार और उसकी कला को भी देखती हैं। उसकी सेवा और उसकी तैयारी को भी देखती हैं। उसकी कमज़ोरियों और उसके पतन को भी देखती हैं। वह अपने उत्थान से, उत्थान के शेष रहे हुए पथ को दूरी देखकर, अपनी नम्रता और धीरज को समेटता रहता है; और अपने पतन को देखकर उत्थान की करारी छलाँग मारने के लिए, बलों की आत्मा से; बल की प्रार्थना किया करता है।

एकान्त जीवन का अवकाश, कलाकर का वह मन्दिर है, जहाँ वह अपने को अकर्मण्य-कर्मण्यता के नास्तिक बन्दीगृह से बाहर निकालता है; आकांक्षाओं की मूरत बनाता है, चिन्तक पर रंग चढ़ाता है, और इस तरह अपने मूक वैभव को क़लम पर उतार कर, विश्व में भेजता है; जिसे देखकर, दुनिया की शत-शत वाणियां वाचाल हो उठती हैं। भला, ऐसे समय यह कैसे माना जावे, कि कला का अनुवाद भी होता है, उसकी नक़ल भी उतारी जा सकती है। इच्छाओं के आदर्श का अनुवाद? आदर्श की इच्छाओं की नक़ल?

कलाकार का जीवन द्वैत में, अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की अनुभूति होता है। जब वह अपने अनन्त-चिन्तन में उतरा होता

है तब वह कला-पिता के जोखिम भरे उल्लास से आभूषित और कला-माता के प्राण-मय बोझ से बोझीला होता है। किन्तु जब उसका चिन्तन उसकी क़लम पर उतर आता है, तब वह, अपना ही कला-पुत्र होकर, विश्व के अन्तर्-नर की सुकोमल गोदों में खेलता रहता है। चाह की तीव्रता और चिन्तन का माधुर्य ये दोनों ही तो वैज्ञानिक संघर्षण की वस्तुएँ हैं जिन से, चटख पड़ने वाले प्रकाश को, अपने भिन्न-भिन्न रङ्गों के रक्त से गोला कर, अस्तित्व की अँगुलियों के द्वारा, विविधिता के पत्रक पर, कलाकार विश्वनिर्माता की, अपने मनमोहन की, कोई तसवीर खींचा करता है। जिसका आराध्य हर चीज़ में हो, और पहुँच की तीव्रता के माप से वह 'अपना' हो, तो कलाकार को आँखों और अन्तर् के प्रवेश के लिए; प्रकृति का सारा वैभव, और ख़तरों का समस्त भण्डार, अपने अन्तर् का द्वार क्यों न खोल देंगे? कलाकार की अँगुलियों की असफल खिलवाड़ों तक में, एक मनुहार, एक अपील, एक वेदना, एक झाँकी और एक बेक़सी होती है। वहाँ, उस प्रकटीकरण के समय, उसकी अँगुलियाँ, उसे अपने आराध्य से कहीं अधिक मीठी मालूम होने लगती हैं किस गोद के लिए कला दौड़ आती है? उन आँखों के लिए जो कल्पकता की ममता और ममता की कल्पकता का अनुभूति के माप से अन्दाज़ा लगा सकें! उस जानकारी की गोद पर, जो कला की आकृति और प्रेरणा को मुँदी आँखों से देखकर शिल्पी के खुले हृदय का आकलन कर सके, और खुली आँखों से देखकर, स्मृति

को विस्मृति के हवाले कर, कलाकार की वस्तु में समा सके।

कलाकार क्या है? वह अपने युग की, स्फूर्ति के प्रकाश के रङ्ग में डूबी, भगवान् की प्रेरक और कल्पक कूँची है। उसके स्वरों में रङ्ग होते हैं, रङ्गों में स्वर होते हैं। उसके चित्रण की आत्मा सजीव होती है, मंचों पर दिखाए जाने वाले नाटकों की तरह उसे समझने के लिए, ख़ास पढ़े-लिखों की पल्टन ही की ज़रूरत नहीं होती। जिन्हें स्वप्न समझने की बुद्धि है, उनके पास कला का मूल्य है। जो मुसकुराहट और बेचैनी को समझ सकते हैं, वे कलाकार को समझ सकते हैं। जो जीवन और मृत्यु को समझा करते हैं, वे उस समय कलाकार की भाषा को पढ़ा करते हैं। उन्हें देखकर, कलाकार अपने आँसुओं और उल्लासों को चित्रित किया करता है, बेचारे कल्पना के सत्य हों, पर कलाकार के लिए तो वे सत्य को कलरकता हैं। उन घड़ियों का संचय ही, कलाकार का सम्पूर्ण जीवन है।

# वीरता

( पं० श्यामबिहारी मिश्र तथा पं० शुकदेव बिहारी मिश्र )

वीरत्व संसार में एक अमूल्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्य शास्त्र में उत्साह ही उसका स्थायीभाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नहीं हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर वरन् कादर भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़कर सर्वप्रिय कोई भी नहीं होता और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्रायः और किसी गुण का नहीं पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं किन्तु जितना आकस्मिक और रोमाञ्चकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसी लिए वीरत्व में जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणों से श्रेष्ठतर है और यह कीर्ति का सबसे बड़ा वर्धक है। कादरता में तिलमात्र आकर्षण-शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति योग्य नहीं है, कादरता का कोई

भी अंश किसी का चित्त अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा और भय में कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो किसी का प्रीतिभाजन हो सके।

वीरत्व को बहुत लोगों ने सामर्थ्य में मिला रक्खा है किन्तु इन दोनों में कोई मुख्य सम्बन्ध नहीं है। सामर्थ्य केवल इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। यदि वीर पुरुष बलहीन न हुआ तो उसकी वीरता वैसी नहीं जगमगाती जैसी कि बलवान् वीर की। यदि हनुमान् जी समुद्र न फलाँग गये होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब माने जाते हैं किन्तु उनके महावीरत्व के चमकानेवाले उदधि-उल्लंघन और द्रोणाचल-आनयन के ही कार्य्य हुए। वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है। वास्तविक वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न होकर मानसिक बल है जिसे इच्छाशक्ति कहते हैं। इस शक्ति का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष की उद्दाम इच्छाशक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है और एक कादर कभी-कभी पूरे दल की कादरता का कारण हो जाता है। शरीर का वास्तविक राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल-तिल कट जाने से मुँह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते के खड़कने से भी भाग खड़ा होता है। बुद्धि, अनुभव आदि इसके शिक्षक हैं। यही सब मिल कर इसे जैसा बनाते हैं वैसा ही यह बनता है। इच्छा इसी शिक्षित अथवा अशिक्षित मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डावांडोल होगा उसकी आज्ञा, इच्छा, वैसी ही पुष्ट अथवा शिथिल होगी। जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववश है उसी

की इच्छा में वज्रवत् दृढ़ता होगी। विना ऐसी इच्छाशक्ति के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इस लिए दृढ़ता वीरत्व की सबसे बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिलमात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचर कार्य्य देखकर विना उसे शुद्ध किये नहीं रह सकता, वह सच्चा वीर कहलावेगा।

वीरता का द्वितीय पोषक न्याय है। विना इसके वीरत्व शुद्ध एवं प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय के सच्चा होने को बुद्धि की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कान्ति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिए न्याय, शीलता, उदारता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहाँ वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् रामचन्द्र का है। इन्हीं को महाकवि भवभूति ने महावीर की उपाधि से भूषित करके महावीर-चरित्र के नाम से इनकी जीवनी एक नाटक में लिखी है। दण्डकारण्य में जिस काल आपने निशिचरों-द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थियों का समूह देखा तो तुरन्त 'निशिचरहीन करों महि, भुज उठाय पण कीन्ह'। यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था जो आपने निशिचरों से विना कोई बैर हुए भी दिखलाया। समय पर आपने यह उद्दण्ड पण सत्य करके दिखला दिया। इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी जो एक बार जाग्रत् होने से फिर दब नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण-कार्य्य का सम्बन्ध है, सो कारण शिथिल होने से कार्य का होना कठिन होता है। कहते ही हैं कि विना

दृढ़ेच्छा के सदसद्विवेकिनी बुद्धि की आज्ञा अरण्य-रोदन हो जाती है। शुभ कार्यारम्भ के विषय में कहा है कि विघ्न-भय से अधम पुरुष किसी शुभ कार्य्य का प्रारम्भ नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग प्रारम्भ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते हैं किन्तु उत्तम प्रकृतिवाले हज़ार विघ्नों को दबाकर एक बार का प्रारम्भ किया हुआ शुभ कार्य पूरा करके ही छोड़ते हैं।

सत्यनिष्ठा भी शौर्य्य के लिए एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्य-भाषण से बचेगा और अपना वास्तविक रूप छोड़कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी चेष्टा न करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोकमान्यता के लालच में सिद्धान्तों को भङ्ग करते हुए बहुधा देखे गये हैं। सिद्धान्त-प्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों की ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों-द्वारा सिद्धान्ती माने जाने ही के लिए वे सबसे बड़े सिद्धान्तों को हँसते हुए चकनाचूर कर देंगे। जो लोकमान्यता के भय से सिद्धान्तों को भङ्ग करने को तैयार नहीं है वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है। इस विषय का परमोत्कृष्ट उदाहरण हमारे सत्यकाम जबाला का मिलता है जिस काल यह पुरुष-रत्न अपने गुरु के पास विद्याध्ययनार्थ उपस्थित हुआ तो उन्होंने इसके माता-पिता का नाम पूछा। सत्यकाम ने माता का नाम तो जबाला बतला दिया किन्तु पिता-विषयक प्रश्न का यही सीधा उत्तर दिया कि मेरा पिता अज्ञात है।

इस उत्तर को सुनकर सत्यकाम का गुरु अवाक् रह गया, किन्तु भावी शिष्य की सत्यप्रियता से परम सन्तुष्ट होकर उसने आज्ञा दी कि तूही सत्य-प्रियता के कारण अध्यात्मविद्या का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है। इतना कहकर गुरु ने उसे शिष्य किया और सत्यकाम का जबाला नाम रख उसे अपने शिष्यों से श्रेष्ठतर माना। समय पर यही सत्यवादी पुरुष ब्रह्म-विद्या का सर्वोत्कृष्ट पण्डित हुआ। इस पुरुष का घर सत्य का अवतार था, इसका मन निर्मल था और इसका बर्ताव उच्च था। इन्हीं बातों से यह ब्रह्म विद्या का सबसे ऊँचा अधिकारी हुआ। इसी लिए यह कहा गया है कि मन, बर्ताव और गृह मिलकर मनुष्य का चरित्र बनाते हैं।

वीरत्व का सर्वश्रेष्ठ समय बाल-वय है। जितना उत्साह मनुष्य में इस काल में होता है उतना और किसी समय नहीं होता। श्लाघ्य चरित्रवान् मनुष्यों को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है उतना कोई दूसरा कभी न मानेगा। बाल-वय में मन सफेद काग़ज़ की भाँति होता है। इस पर सुगमतापूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्रवालों में वीरपूजन की मात्रा अधिकता से होती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी न किसी को श्लाघ्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महानीचों को ही संसार में कोई भी श्लाघ्य नहीं समझ पड़ता। जिसमें श्लाघ्य चरित्र-पूजन की कामना बलवती होती है उस में वीरता कम से कम बीज-रूप से तो रहती ही है। स्यात् इन्हीं विचारों से हमारे यहाँ वीर-पूजन की रीति चलाई गई हो। बिना दूसरों के गुण ग्रहण किये हुए लोग प्रायः उदारचेता

नहीं होते। इसी लिए वीरों में कोमलता और उदारता प्रायः साथ ही साथ पाई जाती है। प्रसन्न-चित्तता भी इन्हीं बातों का एक अङ्ग है। कहा गया है कि बुराई रोकने का पहला उपाय मानसिक प्रसन्नता है, दूसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है और तीसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता ही है। बिना इसके बुराई रुक ही नहीं सकती। मानसिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव प्रेम-भाव से होता है। जिस व्यक्ति से हम प्रेम करेंगे वह लौटकर हमसे भी प्रेम करेगा। इसलिए जो संसार-प्रेमी होता है उससे सारा संसार प्रेम करता है। जिससे वह सदैव प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में वह बुराई किसके साथ करेगा? प्रायः देखा गया है कि अपने साथ किसी की खोटाई का मूल कल्पना मात्र होती है। हम स्वयं असभ्यता कर बैठते हैं और जब उसके प्रतिफल में हमारे साथ कोई असभ्यता करता है तब हम आत्म-प्रेम में अन्ध होकर समझ बैठते हैं कि वह निष्कारण हमारे साथ खोटाई करता है। इसलिए सम्भावित पुरुष को बुराई से सदैव बचना उचित है और क्षमा से अवश्य काम लेना चाहिए, क्योंकि वे जाने हुए भी हमारे द्वारा क्षमापात्र का अपकार हो जाना सम्भव है। खोटाई और निष्फलता का पहले ही से भय कभी न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से कोई इनको जीत नहीं सकता। इनको जीतने का सब से सुगम उपाय आशा ही है। इसी लिए कहा गया है कि आशा न छोड़नेवाला स्वभाव भी बहुत ही मूल्यवान् है।

स्वार्थत्याग वीरता का सबसे बड़ा भूषण है। दास-भाव

ग्रहण करके यदि कोई विवाह-बन्धन में पड़े तो उसके इस कर्त्तव्य में कुछ न कुछ क्षति अवश्य पहुँचेगी। वीरवर हनुमान् ने जब भगवान् का दासत्व ग्रहण किया तब आत्मत्याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन-पर्य्यन्त कभी विवाह ही नहीं किया। इधर भगवान् ने जिस काल यह देखा कि इतनी प्रजा इनके द्वारा सीता-ग्रहण के कारण इन्हें उच्चाति-उच्च आदर्श से गिरा समझती है तब इन्होंने प्राणोपम अर्द्धाङ्गिनी सती सीता तक का त्याग करके अपने प्रजारञ्जनवाले ऊँचे कर्त्तव्य को हाथ से नहीं जाने दिया! बाल-वय में भी अपने पिता की बेमन की आज्ञा मानने तक से इन्होंने तिलमात्र सङ्कोच नहीं किया। आपने यावज्जीवन स्वार्थत्याग और कर्त्तव्य-पालन का ऊँचा आदर्श दिखलाया मानों ये सदेह कर्त्तव्य होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।

कार्य्य-साफल्य साधारण दृष्टि से तो वीरता का पोषक है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर कर्म में आ जाती है, चाहे वह तिलमात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष-द्वारा सम्पादित हुआ हो। एक साधारण सैनिक जो अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर शरीर त्याग देता है, दार्शनिक दृष्टि से, बड़े से बड़े विजयी के बराबर है। वीरता के मूल सूत्र कर्त्तव्य-पालन और स्वार्थ-त्याग हैं। बिना इनके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता। एक बार दो रेलों के लड़ जाने से एक एंजिन हाँकनेवाला अपने एंजिन में दबकर वायलर में चिपक रहा।

वह मृतकप्राय था किन्तु उसके होश-हवास नहीं गये थ। इसलिए वह जानता था कि बायलर जल्द फट कर उड़ेगा, सो जब और लोग उसे छुड़ाने के लिए प्रयत्न करने लगे तब उसने उन सब को वहाँ से यह कहकर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सब यहाँ प्राण देने क्यों आये हो, क्योंकि भाप के बल से भी बायलर फटना चाहता है जिससे सब के प्राण जायँगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिए इतना ध्यान रखना वीरता का बड़ा लक्षण है।

वीरत्व के लिए भय का देखना तक ठीक नहीं कहा गया है। इसी लिए हमारे यहाँ वीर को शूर कहते हैं कि अन्धे की भाँति वह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखिया आदि के उद्धार में वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देगा। सच्चा वीर निर्बल, भीत, कायर और स्त्री पर कभी किसी प्रकार का अत्याचार न करेगा। संसार में जिसकी पदवी जितनी ही ऊँची है उसे उतनी अधिक वीरता दिखलानी चाहिए, क्योंकि उसकी वीरता से संसार का बहुत अधिक लाभ हो सकता है। इन्हीं कारणों से राजा को सब से अधिक वीर होना चाहिए। कहा ही है— 'वीरभोग्या वसुन्धरा।' फिर भी छोटे से छोटे पुरुष को भी उच्च सिद्धान्तों से तिल मात्र नहीं हटना चाहिए, क्योंकि थोड़ी सी बुराई भी संसार में अपना फल दिखलाये बिना नहीं रहती। इसी से कहा गया है कि अनुभवी पुरुष को थोड़े से अवगुण की भी उपेक्षा न करनी चाहिए, नहीं तो थोड़ा-सा अवगुण उसमें अवश्य आ जायगा।

---

# धर्म्म और अनुष्ठान

## ( गोबर गणेश संहिता )

धर्म्म हम लोगों के नस-नस की बसी हुई चीज़ है। इस लोक में हम लोगों ने धर्म्म के लिये सब कुछ विसर्जन कर दिया है और परलोक में यह धर्म्म ही हम लोगों का सम्बल है। भारत-वासी जन्म से मरण तक निरवच्छिन्न रूप से धर्म्म कमाया करते हैं। इसी कारण उनके धर्म्म की गठरी सब से भारी है। 'धर्म्मो-यान्तमनुव्रजेत्'—परलोक में अकेला धर्म्म ही हम लोगों के साथ जाता है। इस कारण हम इस को छोड़ कर नहीं जा सकते।

लेकिन इतना बड़ा लगेज ले कर वैतरणी पार करके पर-लोक का बीहड़ रास्ता तै करना क्या सहज है? जान पड़ता है इसी से वैतरणी पार करते समय हम लोगों के कपार पर आस्मान फट पड़ता है। जगत की जिन जातियों का धर्म्म-बोझ हलका है वे सब हँसते-हँसते सहज सहज ही वैतरणी पार हो जाती हैं। जापानी, धर्म्म की परवा नहीं करते, इसी से वे लोग 'हारि किरि-

करके खड़े खरीदे तितलौकी की तरह उलटते चले जाते हैं। और हैजा, प्लेग और बुखार के रूप में जब यमदूत आकर हम लोगों के गले में रस्सी डालते और खींच कर घसीटते ले चलते हैं, तब हम लोग धर्म्म की बड़ी गठरी कपार पर लादे हुए बैतरणी के पानी में आंखों का पानी मिला कर चुभकियाँ खाया करते हैं। क्लाइव ने तीन बार अपना प्राण आप ही लेने की कोशिश की थी। जान पड़ता है उनके माथे पर धर्म्म का उतना बड़ा बोझ नहीं था। बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन अपने सभापण्डित जयदेव के श्रीमुख से गीतगोविंद सुन-सुन कर धर्म्म का बोझा भारी कर बैठे थे। इसी से उन्होंने इतिहास के सन्धिस्थल में पोथी-पत्रा देख कर "यः पलायति स जीवति" वाक्य की सार्थकता प्रतिपादित की थी।

हम लोग बातों से तो कहा करते हैं कि मरने के लिये सदा तैयार हैं और उदाहरण में बता देते हैं कि हमारी परदादी मरते मर गयीं लेकिन गङ्गा जल के सिवाय उन्हों ने दवा की एक बूँद भी गले से नीचे नहीं उतारी। किन्तु हम लोगों में सौ में निन्नानवे जब कठिन रोग के पाले पड़ते हैं तब केवल वैद्य-डाक्टरों की गोलिया और मिक्सचरों से ही सन्तुष्ट नहीं होते, ऊपर से नवग्रह का शांति स्वस्त्ययन और काली-कमाख्या के सामने जीव के बदले जीव देने की व्यवस्था कराया करते हैं। इस देश में सर्व साधारण लोग हैजा और चेचक के रोगी की सेवा करने से इनकार नहीं करते। पर इससे यह नहीं साबित होता के वे लोग मरने से नहीं डरते। संक्रामक रोगी की सेवा-बरदाश्त में क्या आफत होती है

को नहीं जानने के कारण ही विना संकोच के इन रोगियों की सेवाशुश्रूषा किया करते हैं।

हत्यारे डाकू के हाथ में पिस्तौल देखते ही जब हम लोग जी छोड़ कर भागते हैं, तब सङ्कट-विपत में पड़े हुओं के बचाने के लिये हम लोग काल के गाल में कहाँ कूद सकते हैं? हम लोग मन के बल से कालभय दूर नहीं कर सकते, इसी कारण कालभयहारी मुरारी को बात बात में पुकारा करते हैं। जन्म लिया कि मरना तैयार है—जो जन्मता है उसको मरना पड़ता है, इस कारण जन्म-मृत्यु से पीछा छुड़ाने के लिए तो हम लोग सदा व्याकुल रहते हैं, परन्तु ज़रूरत पड़ने पर हज़ार बार आदमी का जन्म लेंगे और हज़ार बार आदमी की तरह जान देंगे, हृदय में इस प्रकार की आकांक्षा का पोषण करना हम लोगों ने नहीं सीखा है। सीखा है केवल धर्म करना। और धर्म ऐसा करना जिससे सदा के लिये जगत में आना जाना या जन्म लेना और मरना छूट जाय।

हम लोगों ने सब खोकर एक धर्म को ही सार माना है। इसी कारण सभी कालों में हम लोग धर्म की दुहाई दिया करते हैं। जब कोई बलवान् हम पर जुल्म करता है तब कहते हैं—'धर्म देखता है। हमने सह लिया, लेकिन धर्म नहीं सहेगा धर्म ही के दरवाजे इसका इन्साफ होगा।' जितनी ही हम लोगों की कमजोरी बढ़ी है उतनी ही धर्म की दुहाई बढ़ गई है। जो हम लोगों को लात मारता है उसको हम लोग हाथ जोड़ कर 'धर्म्मावतार' कहते हैं। अगर वह

शार्दूलस्वभाव का है तो उसकी समालोचना करने का किसी को अधिकार नहीं, करने से अधर्म होता है।

हम लोग किया हुआ पाप धोने के लिये प्रतिदिन कितना धर्म्म किया करते हैं, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। पेशकार दयाराम बड़े निष्ठावान् आदमी हैं। वे जिस दिन जितनी बेर घूस लेते हैं उसके दूसरे दिन कचहरी जाकर सबसे पहले उससे दसगुने रामनाम जपकर पाप का खाता ड्यौढ़ा कर देते हैं। हम लोगों के धर्म्म के साथ कर्म्म का पग पग पर सम्बन्ध है। किस कुण्ड में किस तीर्थ के किस अवसर पर स्नान करने से कौन पाप कटता और कौन स्वर्गलाभ होता है और कितने मन कौड़ी कहाँ दान करने से कौनसा पातक छूट जाता है, इन सबका हम लोगों के धर्म्मशास्त्र में अच्छा स्केल बँधा रक्खा है।

हम लोगों के धर्म्म का बहिरङ्ग बहुत फैला हुआ है। हम लोगों के सब कामों में, पहनाव और पोशाक तक में, धर्म्म विशेषभाव से जकड़ा हुआ है। जम्हाई लेने पर चुटकी बजानी चाहिये, इस पर भी धर्म शास्त्र की रीति से कितनी ही वैज्ञानिक व्याख्या हैं। महापापी नरपिशाच भी माथे पर घोपदार शिखा रख कर समाज में विचरण कर सकता है, उसके मस्तक पर वज्र पड़ने का डर नहीं रहता है। क्योंकि शिखा एक तरह का (Lightninng Conductor) है। दूसरी ओर समाजक निष्ठावान् धर्म्मधुरीण दलपति पाँडे जी के उदर में अगर किसी तरह मुर्गमांस या और कोई गुरुपाक पदार्थ पहुँच जाय तो फिर उस समय उनकी वह चोटी

विशेष रूप से हाजमें की गोली का काम किया करती है। स्वर्गवासी सिन्हा साहब ब्राह्मण पण्डितों की चौड़ी चौड़ी चुटियाँ रुपये के जोर से कटाकर ग्लासकेस में रखते और उन पर नम्बर लगा दिया करते थे। जान पड़ता है इस देश के मन्दाग्निग्रस्त लोगों के लिये उन्होंने परोपकार भाव से हाजमें की गोलियों की एजेन्सी खोलना विचारा था। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि इसमें इतने गुण रहते भी भारतप्रवासी पाश्चात्य सज्जनों ने इतने दिन हो गये, माथे पर शिखा रखना नहीं सीखा। और बड़े दुःख की बात है कि प्राचीन चीन जाति राष्ट्र-विप्लवके भँवर में पड़ कर अपनी सदा की प्यारी वेणी विसर्जन कर बैठी है।

भारतवर्ष के सभी धर्म अनुष्टानगत हैं। अनुष्ठान के बिना धर्म-साधना नहीं होती। बकरा-ईद के समय इस देश के मुसलमान जो गौहत्या करते हैं, सो यह भी उनके धर्म का अनुष्ठान विशेष है। और हिन्दुओं की गोरक्षिणी सभा से जो गौमाता की पूजा और रक्षा की व्यवस्था होती है वह भी एक धर्मानुष्ठान है। इन धर्मानुष्ठानों की टक्कर में जो हरसाल लट्ठमलट्ठा हुआ करता और रक्त की नदी बहती है, उसे देखकर स्वर्ग में देवगण खुशी के मारे गला फुलाकर हँसते और भारतवासियों की धर्मनिष्ठा को सैकड़ों धन्यवाद प्रदान करते हैं। इधर मर्त्यलोक में, राजकर्म्मचारी इस टक्कर के बीच निर्लिप्त भाव से खड़े रहकर पक्षापक्ष के कानून के अनुसार डिग्री-डिस मिस करके शासन-दंड का गुरुत्व लघुत्व अनुभव किया करते हैं। वे लोग हिन्दू-मुसलमानों के धर्मानुष्ठानों में खलल नहीं डाल सकते.

क्योंकि प्रजा की धर्म-रक्षा ही राजा का धर्म है। सुना है एक बार जब यहाँ देशीय बहादुरों के वालंटियर या शौकिया सैनिक होने की बात उठी थी, तब नदिया और काशी के छात्रों ने विनती की थी कि सरकार बहादुर अगर हमको वालंटियर बनावे तो हम लोग कमर में रामनामी और पाँव में खड़ाऊँ पहनकर रणभूमि के तोप-लदी हुई गाड़ियाँ ठेलने को तैयार हैं। क्योंकि हमारे ब्रह्मचर्य्य में चमड़े का जूता और सिला हुआ कपड़ा पहनना निषिद्ध है। लेकिन सेना के अफसरों ने देखा कि लड़ाई पर चढ़ने के समय सब जगह इनके लिये करवाकोपिन्द, रामनामी, गङ्गाजल और पूजा-पाठ का सामान जुटाने की व्यवस्था न हो सकेगी, और इस कारण उनके धर्मानुष्ठान में खलल होगा। इसी डर से सरकार बहादुर ने उनकी प्रार्थना न मान कर दुःख प्रकाश किया था।

ऐसा कौन सा उपाय है जिससे भारत-प्रजा का धर्म-विरोध मिट जाय, और साथ ही सब तरह से सबके धर्म की रक्षा हो, इस का निश्चय करने के लिये एक बार मुझे कुछ दिनों तक देश के अनेक स्थानों में घूमना पड़ा था। मैंने पञ्जाब जाकर देखा कि वहाँ सिख और मुसलमानों में जितना धर्म-विरोध है उतना हिन्दू-मुसलमानों में नहीं। इसका कारण ढूँढने पर मालूम हुआ कि हिन्दू मुसल-मानों का धर्म-विरोध दूर करने के लिये गुरुनानक ने दोनों के धर्म शास्त्रों से सार निकाल कर सामञ्जस्यमूलक सिखधर्म की रचना की थी। मैंने समझ लिया कि राम और रहीम दो सहोदरों को धर्म के सीमेंट से जोड़कर एक करने की कोशिश हुई थी। लेकिन

फल यह हुआ कि एक होने के बदले राम और रहीम के सिवाय एक और तीसरे 'ग्रन्थ साहब' तैयार हो गये हैं। और इन तीनों सहोदरों में बहुत दिनों से पुस्तैनी सम्पत्ति के बटवारेका मामला चल रहा है। पञ्जाब का कौन सा अंश किसके भाग में पड़ेगा, इस विषय में अभी तक कोई राय नहीं निकली है।

बङ्गाल के राजा राममोहन राय हिन्दू, मुसलमान और कृस्तानों के बीच के धर्म-विरोध के त्रिभुजको धर्मसमन्वय के गोलाकारवृत्त में परिणत करने के लिये कोशिश करने जाकर एक चतुर्भुज धर्म-विभ्राट बना गये हैं। राजा बहादुर के नवजात मानसपुत्र ब्रह्मसमाज को हिन्दू, मुसलमान या कृस्तान कोई भी अपनी गोद लेना कबूल नहीं करता। आशा है, यह शिशु जीता जागता रहा तो समय पर चार आने का हक़दार खड़ा होगा और अपना हिस्सा बँटा लेगा।

स्वदेशी आन्दोलन के समय एक विख्यात हिन्दू वक्ता ने कहा था—'आगे चल कर इस देश के मुसलमान महाशयों को कण्ठी धारण करा देने से ही सब बखेड़ा मिट जायगा।" इसी तरह स्वदेशी वक्ता अब्दुल याकूब ने अपने किसी हिन्दू मित्र से कहा था—'उस समय हिन्दुओं को एक बार कलमा पढ़ा लेने से ही सब धर्म-विवाद दूर हो जायेगा। इस समय इसके लिये व्यर्थ मगज़ लड़ाने की जरूरत नहीं है।" हिन्दू मुसलमान नेताओं की ये सब बातें सुन कर मैंने समझा कि कण्ठी धारण बनाम कलमा-पाठ का मामला फिलहाल मुल्तबी है, समय आने पर उसका विचार अमल में आवेगा।

पर यह बात अच्छी नहीं है। भारत का धर्म-विरोध दूर हुए बिना जाति या नेशन सङ्गठित नहीं हो सकती। हमारे पूर्ववर्ती धर्म-संस्कारकों से तो अब तक वह नहीं हो सका, इस कारण मुझे ही अब इसको करना होगा—यहाँ के हिन्दू-मुसलमानों का धर्म-विरोध मुझ को ही हटाना होगा। मेरे बिना यह असाध्य साधन और किससे हो सकता है? इसके लिये अगर गोबर गणेश को ग्यारहवाँ अवतार बनना पड़े तो भी चिन्ता नहीं। धर्म की ग्लानि होने पर ही अवतार की जरूरत पड़ती है। और इस समय धर्मग्लानि बेतरह हो रही है, इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं है। ऐसे असंख्य हिन्दू हैं जो ब्राह्मो और म्लेच्छ धर्म की निन्दा किये बिना जल ग्रहण नहीं करते। और ऐसे अनगिनत कट्टर मुसलमान हैं, जो काफिरों के धर्म की निन्दा कर के ही सवाब कमाना मानते हैं। इसी तरह ऐसे अनेक मिशनरी पादरी हैं जो धर्म्म-प्रचार के समय ऐसा कोई धर्म नहीं जिसकी निन्दा ग्लानि न करते हों। धर्म की जितनी निन्दा ग्लानि है सब धर्म-विरोध से ही उत्पन्न हुआ करती है। इस धर्म-ग्लानि को दूर करने के लिये विरोध की जड़ उखाड़ना होगी और इसी काम को करने के लिये मैंने अवतार लिया है। इस कारण बहुत कुछ ढूँढ़-खोज के बाद मैंने यह ठीक किया है कि जब हिन्दुस्तान के सब धर्म आनुष्ठानिक बहिरङ्ग पर ही विशेष भाव से प्रतिष्ठित हैं और मूल में सब एक और अभेद हैं, तब एक विराट् धर्म-सम्मिलन करने के लिये कुछ प्रधान प्रधान अनुष्ठानों में जरूरत के मुताबिक

घट बढ़ कर लेना होगा, अर्थात् हिन्दू मुसलमान और क्रस्तान धर्म के अनुष्ठानों को काट छांट कर कलम जोड़ना होगा। इस को मैं यहाँ दो चार उदाहरण देकर बतलाता हूँ। जैसे बच्चों का अन्न-प्राशन करने के समय उनके मुँह में अन्न देने के साथ ही सुन्नत करा देना होगी। ऐसा करने से वे सब शिशु हिन्दू और मुसलमान दोनों परिवारों में पोष्य पुत्र रूप से लिये जा सकेंगे। हमारे ब्राह्मण पुरोहित, पण्डित, दाढ़ी मूंछ घुटा कर माथे पर शिखा रखते हैं और मुल्ला माथे के बाल मुँड़ा कर दाढ़ी रखते हैं। दोनों का मिलान करने के लिये ब्राह्मणों को चिबुक पर चुटिया रखनी होगी। इससे वह चुटिया और दाढ़ी दोनों में चलेगी। हमारे देशी बारिस्टर जो चुटिया और मूंछ-दाढ़ी सफाया कर के मुछकुन्द बनते हैं सो अच्छा काम नहीं करते। इससे न तो वे हिन्दू रहते हैं न मुसलमान। इस तरह दोनों से बाहर जाने की क्या जरूरत है? अगर वे लोग 'फ़्रेञ्च कट' की दाढ़ी रखकर ठुड्डी के आगे वाले बाल बीच से बढ़ने दें तो वे चुटिया रूप में हिन्दू और दाढ़ी रूप में मुसलमान, दोनों चल सकते हैं। हिन्दू समाज में रामनामी लुङ्गी जारी करना होगी और बधना का कमण्डल के रूप में व्यवहार करना होगा।

इस तरह समाज में परिवर्तित आचार चलाने से एक बड़े भारी नये तंत्र की रचना आवश्यक होगी। इस कारण मैं भारत-वासियों के हित के लिये उसके रचने को वाध्य हुआ हूँ। यह तंत्र लोक-समाज में गोबर-गणेश तंत्र के नाम से जाहिर होगा। इसमें

मैंने पञ्च मकार के साथ पञ्च पकार का योग किया है। पावरोटी, पाठा, पोलाव, पलाण्डु और पयज़ार ये पञ्च पकार हैं। पहले का नाम जगज़ाहिर है। दूसरा बकरे का पर्य्याय है। तीसरा प्रसिद्ध खुराक है। चौथे का चलित नाम पियाज है। पाँचवाँ जूती-पयज़ार मौलवी स्टाइल की हिन्दी में चलनसार है। जिस साधक के भाग्य में पिछले दो पकार का पूरा साधन होगा उसको शीघ्र ही सिद्धि रक्खी हुई है। यह तंत्र मेरा बनाया हुआ है,इस कारण इसका कोई अनादर न करे। मैं हर-पार्वती के अंश से कलि के अन्त में जब गणेशदेव होकर उतरा हूँ, तब इस नवयुग के लायक नव-तंत्र रचने का मुझे पैतृक अधिकार है। 'अत्र सन्देहो नास्ति।'

मैंने बड़े उत्साह से इस नवतंत्र का प्रचार शुरू कर दिया। क्रिश्चियन मिशनरीगण, रामकृष्ण मिशन के स्वामी लोग और ब्रह्मसमाजी मुझे ईर्षा की आँख से देखने लगे। मेरे कई हिन्दू और मुसलमान चेले आ जुटे। एक दिन वे लोग आपस में शव-सत्कार की बात पर बहस करके मेरे पास निबटने के लिये आये। मैंने कहा —'हिन्दू और मुसलमानों की मृतसत्कार पद्धति का सामञ्जस्य या मिलान करने के लिये मुर्दे को अधजला करके कब्र में दफ़न करना होगा। समय आने पर जब मैं अपना शरीर छोड़ूँगा तब तुम लोग इसको आग में कुछ जलाकर समाधि दे देना'' मेरी बात सुनकर दोनों दल ने धन्य धन्य किया। प्रचार के लिये मुझे अनेक सभाओं में वक्तृता देनी पड़ती थी। जहां जिस ढङ्ग के श्रोता देखता वहां मैं उसी ढङ्ग की वक्तृता देता था। श्रोताओं में अधिक

ब्राह्मण पण्डित देखता तो द्वैताद्वैतवाद की जटिल समस्या को घटत्व पटत्व द्वारा और भी जटिल कर देता, और इस तरह वाक्-धारा बहाता कि लोग ताकते ही रह जाते थे। श्रोताओं में यदि मुसलमान अधिक देखता तो हसन हुसैन की वात लाकर कुरान शरीफ़ की दो चार आयतें कहकर सबको मोहित कर लेता था। अगर सभा में तिलक-त्रिपुण्डधारियों की भीड़ देखता तो गोपीभाव लाकर सब को मधुर रस में चुभकियाँ खिलाने लगता था।

वक्तृता देते देते मुझे वक्तृता की बादी हो गयी। एक दिन कालिज के लड़के मुझे स्वदेशी सभा में स्पीच देने के लिये ले गये। मैंने 'लाल पगड़ी' की बाढ़ देखकर चट राजनीति का कँटीला रास्ता छोड़ दिया और धर्म के भीतरी रौस से स्वदेशी का ठेला ठेल दिया। कहा—'गौ की हड्डी से जो नमक रिफाइन किया जाता है उसको खाने से धर्म रहेगा ?'' सबने एक सुर से कहा—'नहीं, नहीं। इस नमक को खाकर हम लोग गोभक्तक नहीं होंगे।'' इतने पर तो मुसलमान श्रोताओं की आँखें लाल हो गयीं। तब मैंने उन को ठण्डा करने के लिए कहा ''सूअर के रक्त से जो चिनी रिफाइन होती है वह सबके लिये अखाद्य है।'' सभा में कितने ही नेटिव क्रिश्चियन, विलायत से लौटे हुए हिन्दुस्तानी, नमःशूद्र और नीची जाति के अछूत मेहतर तक थे। उनकी ओर से कितने ही चिल्ला कर मेरी बात का प्रतिवाद कर उठे। मैं धर्म्म के भीतर के स्वदेशी चलाने जाकर भकुआ बन गया। क्या करूँ, वक्तृता का अन्तिम भाग यों ही खींच-घसीट कर खतम कर दिया। जब मैं

आसन पर बैठने लगा हिन्दुओं ने 'वन्दे मातरम्' और मुसलमानों ने 'अल्लाहु अकबर' की आवाज की। इसको सुनते ही मैं फिर उठा और समझा-बुझाकर दोनों से 'अल्लाहु मातरम्' कहलाया। एकता चाहने वाले छात्रों की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। बड़े गुल-गपाड़े के साथ सभा विसर्जित हुई। उसके दूसरे ही दिन अखबार में यों छपा:—

## एक नया भय

कौलेज हाल की कल की स्वदेशी मीटिंग में एक नया विकट भय प्रकट हुआ है। इसका नाम है 'गोबर गणेश' उसने चतुराई से हिन्दु-मुसलमानों के लिए एक ही नारा सोचा है 'अल्लाहु मातरम्' वह धर्म की आड़ में स्वदेशी का प्रचार करता है और ऐसा करते हुए उसने कल उत्तेजक वक्तृताएँ दीं जिससे हिन्दुओंको मुसलमानों के विरुद्ध भड़काया। जहाँ तक हम जानते हैं वह एक पैगम्बर बनना चाहता है और कुछ लोग अनुगामी बना चुका है। यह स्पष्ट है कि वह हिन्दु-स्थान में 'महदी' का काम करना चाहता है।"

इसको पढ़ते ही मेरे पेट के चावल उछलने लगे। उसी दिन से जब स्वदेशी सभा का कोई नाम लेता तो मैं दूर ही से प्रणाम करता था। मैं धर्म-संस्कारक हूँ। धर्म सभा के सिवाय और कहीं वक्तृता करने जाना ही मेरे लिये उचित नहीं है। एक दिन एक कीर्तन करनेवाली भजनमण्डली ने मुझे नेवत बुलाया था। मैं जब उनकी सभा में गया तो देखा कितने ही नयी रोशनी के किरानी और पेंशन पाने वाले बूढ़े सभा में बैठे हैं। मैंने मंच पर खड़ा होकर

वक्तृता के लिए ज्यों ही मुँह खोला कि सब लोगों ने "हरे कृष्ण हरे कृष्ण' कहकर अभिवादन किया। अब उत्साह पाकर मेरा मुँह बन्य परनोहे की तरह खुल गया और उसमें से रङ्ग-बरङ्ग की लच्छेदार बातें निकलने लगीं। मैंने कहा—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, जिनके शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध नामक पंचतन्मात्रा, और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय, जिनकी क्रिया वचन, ग्रहण, गमन, परित्याग, और आनन्द है। इन दशों इन्द्रियों का नियन्ता मन है। इसको मिलाकर सब ग्यारह इंद्रियाँ हैं। हम लोगों को देह में देही अर्थात् आत्मा ही सब इंद्रियों का कर्ता है। यहाँ आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन्हीं पंच कोषों में रहना है। मैंने दिखलाया कि इस पंचकोष में आत्मा कैसे पूर्व जन्म के कर्मफल से आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक त्रिविध दुःख भोग किया करता है। यही जीव का बन्धन है। जीव, श्रवण, मनन, निदिध्यासनादियुक्त कर्म्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के द्वारा यह बन्धन काटकर निर्विकल्प समाधि-प्राप्त होकर सायुज्य और निर्वाण मुक्ति पाता है। वक्तृता में मैंने जब तत्त्वमसि, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैतवाद की जटिल व्याख्या करके उसके साथ साक्षी चैतन्य और कूटस्थ चैतन्य का हटचक्र बाँधकर दालखिचड़ी पकायी, तब सभा में चारों ओर से ज़ोर की हरिध्वनि होने लगी। मैंने समझ लिया है कि वक्तृता का जो अंश जितना ही दुर्बोध्य और निरर्थक होता है उस अंश में उतनी ही

वाहवाही मिलती है। धर्मप्राण हिन्दू श्रोता शब्दार्थग्राही न होने पर भी भावग्राही हैं, इसमें सन्देह नहीं।

उपसंहार में मैंने विवर्तवादी की अवतारणा करके रेखागणित और बीज-गणित को सहायता से विश्वप्रपंच में परब्रह्म की सत्ता प्रतिपादन करके मधुरेण समापयेत् के मतलब से कहा—'ब्रह्मज्ञान से परे लीला है लीलामय पर जो गोपी भाव है वह बहुत ऊँचे दरजे की साधना है। युग युग से प्रेममय, नित्य नयी नयी लीला दिखलाते आते हैं। इसी से भावमय भगवान् रसराज आज भावरूप से अवतीर्ण हुए हैं! उनकी वंशी प्राणोन्मादकारिणी है। उसी वंशीध्वनि से हम लोगों की सूखी यमुना में बाढ़ आयी है। इसी से यमुना आज उलटी बह रही है। वही वंशीध्वनि सुनकर हम लोग कुल मान बहाकर पागल बने दौड़ रहे हैं। यह परकीया प्रेम है। हम लोगों के भाव का अभिसागर जटिला कुटिला नहीं जान सकतीं। इस प्रेम के खेल में जातिभेद नहीं है। हिन्दु मुसलमान, ब्रह्मो, क्रुस्तान सब इस प्रेम के अधिकारी हैं। हरिदास ने मुसलमान होकर भी यह कृष्णप्रेम पाया था। आज हम लोग हिन्दू मुसलमान इस प्रेम में उन्मत्त होकर आपस में मिलकर एकात्मा हो जायँगे।

मेरी वक्तृता समाप्त होने पर बड़े ज़ोर से ताली पीटी गयी। उसके बाद सभाभङ्ग होने से पहले युवकों ने कीर्तन किया।

कीर्तन पूरा होने से पहले ही सभा के कई बूढ़े अध्यक्ष राधाकृष्ण राधाकृष्ण करते हुए उठकर चले गये। अधिकारियों ने सभा विसर्जन के बाद मुझे बड़े आदर से सन्तुष्ट करके विदा

किया। कई दिनों पीछे सुना कि मेरी वक्तृता पर उस मण्डली में बड़ी बहस हो रही है। निष्ठावान् हिन्दू कहते हैं कि मैं हिन्दू समाज को तहस नहस कर देना चाहता हूँ। वे लोग रामनामी लुङ्गी और सुन्नत कराने के पीछे लट्ठ लेकर खड़े हो गये। धीरे धीरे हिन्दू-समाज में मेरे दलवालों का हुक्का पानी बन्द होने लगा। मुसलमान मौलवी लोग कहने लगे कि "हम लोग अगर उनके साथ नमाज़ न पढ़ें और एक पंक्ति में बैठ कर गौ आदि का मांस भक्षण न करें तो वे लोग हम लोगों के साथ एक जाति होने को राज़ी नहीं हैं।" अब हम लोगों ने लाचार होकर ब्रह्मसमाज के सेक्रेटरी को चिट्ठी लिखी कि वे लोग हम लोगों के साथ एक पाँती में होने को राजी हैं या नहीं? उन्होंने जवाब दिया कि 'इस समय एक ब्रह्मसमाज के तीन समाज हो गये हैं। आप लोगों को लेने से तीन की जगह चार ब्रह्मसमाज हो जायँगे।" मैंने पीछे कई पादरियों से भी इस बारे में बातें कीं। उन्होंने कहा कि "हम उस समय तक आप लोगों के साथ धर्म और सामाजिक सन्धि करने पर राज़ी नहीं, जब तक आप लोग पिता पुत्र और पवित्रात्मा में विश्वास न करें और क्रूस में विंधे हुए यीशू को त्राणकर्त्ता न मान लें।" ऐसे सङ्कट के समय एक शिशु-समाज बहुत दिन तक नहीं ठहर सकता। फिर तो हम लोगों का समाज दिनों दिन दुबला होने लगा और भारत का धर्म-विरोध दूर करने से निराश हो रहा।

एक वार मेरे एक स्पिरिच्युलिष्ट मित्र भूत बुला कर मेरी इस समस्या का समाधान करने पर राज़ी हुए। एक दिन सन्ध्या के बाद

हम लोग कई आदमी चक्र बाँध कर बैठे। हम लोगों में एक अच्छा मिडियम था। उस पर तीन चार दुष्ट भूत आये और ऊल-जलूल बक कर चले गये। उनके बाद सुप्रसिद्ध लेखक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की आत्मा का आगमन हुआ। मैंने पूछा—"किस ढङ्ग से धर्मप्रचार करने से इस देश का धर्म-विरोध दूर हो जायगा?" उन्होंने कहा—'कोई भी धर्म प्रचार करो उससे धर्म-विरोध बढ़ने के सिवाय घटेगा नहीं। एकेश्वरवाद पर जितने धर्म हैं वे सदा अपना अपना प्राधान्य लिये रहेंगे। उनका एक करना असम्भव है। किसी काल में जगत के सब मुसलमान कृस्तान नहीं होंगे, न सब कृस्तान मुसलमान होंगे और न सब हिन्दू मुसलमान या कृस्तान ही होंगे। इस कारण एकेश्वरवाद के जितने आन्दोलन हैं सब साम्प्रदायिकता पैदा करते हैं। जितना मतवादी मतवाले बनेंगे उतना ही नये नये सम्प्रदाय उपजेंगे।"

मैंने पूछा—"तब किस उपाय से भारतवासियों का धर्म-विवाद दूर होगा?"

आत्मा ने कहा "भारतवासी अपने अपने धर्मानुष्ठान के बहिरङ्ग पर जितने ही ढीले होंगे उनका धर्म-विरोध भी उतना ही घटेगा। जितनी ही उनकी उधर से उदासीनता होगी उतना ही इस विरोध का लोप होता जायगा। मूल में सब धर्म एक हैं। जितनी लट्ठबाजी है सब उनके बहिरङ्ग अनुष्ठान से होती है। हर एक धर्म का अनुष्ठान उनके शरीर पर ऊभर-खाबर कोर-कांटे हैं। इनको घिस कर चिकना कर देने से सब सलिल हो जायँगे।

फिर वे टकरायेंगे भी तो टक्कर नहीं लेंगे।"

मैं—अनुष्ठान का अङ्ग कम करने से धर्म रहेगा कैसे ?

आत्मा—धर्म का बाहरी अंग जितना बढ़ता है भीतर की वस्तु उतनी ही कम होती है। कबीरदास ने कहा है—

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका छाँड़िके, मन का मनका फेर॥

जहाँ बाहरी अनुष्ठान की बाढ़ है वहाँ भीतर में धर्म्म का विशेष अभाव समझना।

मैं—धर्म का आनुष्ठानिक अंश छोड़ देने या कम कर देने से नीचे दरजे के लोग किस आधार से धर्म-साधना करेंगे ? उन में तो असदाचार फैल जायगा, सब कुराह पर चलने लगेंगे।

आत्मा क्यों ? दया, दान, सुजनता, सत्यभाषण, परोपकार, आदि सद्गुणों के साथ तो कहीं कहीं धर्मानुष्ठानों का छत्तीस का सा नाता देखा जाता है। चोर डाकू देवी को बलि चढ़ा कर चोरी डकैती में हिम्मत बढ़ाते हैं। सुरापायी तांत्रिक अनुष्ठान की आड़ में बेरोक शराब ढालते और व्यभिचार करते हैं। जो दुकानदार सारी देह में तिलक त्रिपुण्ड और भस्म रमा कर गले में बड़े बड़े दानों की तुलसी माला पहन कर कपिल मुनि का अवतार हो कर दुकान पर बैठते हैं, उन्हीं के यहाँ खचियों खरीदार ठगे जाते हैं। जो पुरोहित चोपदार शिखा झाड़ कर ज़ोर से घण्टा बजाता और ऊंची आवाज़ से मन्त्र पढ़-पढ़ कर हवनकुण्ड में बार बार आहुति देता है, हवन का घी चुराने का अधिकार उसी

का अधिक देखा जाता है। कम समझ के लोग ब्राह्मण-पंडितों का फतवा ले कर अनुष्ठान विशेष से सात्विक पापों को काट कर नये पाप करने का पट्टा लिखा लेते हैं। इस तरह धर्मानुष्ठान की अधिकता से इस देश के लोगों का यथार्थ धर्मजीवन बनता नहीं बिगड़ता जाता है।

यह कह कर बङ्किमचन्द्र की प्रेतात्मा अन्तर्धान हो गयी। उसके मुँह से ये सब धर्म-विरुद्ध बातें सुन कर मैंने समझा कि बङ्किम बाबू स्थूल शरीर में जो कुछ थे, सूक्ष्म शरीर में वे नहीं रहे। इसी लिये हम लोगों का उनके कहने पर विश्वास नहीं हुआ। तब हम लोग और किसी विख्यात पुरुष की आत्मा का आवाहन करने लगे।

थोड़ी ही देर में मिडियम के माथे विवेकानन्द की आत्मा आयी। उनसे मैंने पूछा—"इस देश में धर्म्मानुष्ठान के बहिरङ्ग साधन की कमी होने पर लोग धर्महीन, चरित्रहीन और अकर्मण्य हो जायँगे या नहीं और धर्मान्दोलन के बिना जातीय उन्नति हो सकती है या नहीं ?"

उन्होंने कहा—"मैं इस का जवाब उदाहरण से दूँगा। मैं चीन देश देख आया हूँ। चीनियों में ईश्वर-बोधक कोई शब्द ही नहीं है। सारे चीन-साम्राज्य में घूमकर भी कोई निश्चय नहीं कर सकता कि चीनियों का धर्म क्या है ? चीन में चालीस करोड़ आदमी बसते हैं। लेकिन वहाँ वालों में ऐसा कोई भी काम जारी नहीं है जिसको धर्मानुष्ठान कहा जा सके। सुनते हैं, चीन वाले बौद्धधर्मावलम्बी

हैं। बौद्धधर्म नास्तिकता और अहिंसावाद-मूलक है। चीन वाले नास्तिक तो अवश्य हैं, क्योंकि ईश्वरोपासना की परवाह नहीं करते; पर अहिंसा की बात ली जाय तो वे चूहे-चींटी तक नहीं छोड़ते। अहिंसा धर्म कहीं और होगा, चीन में तो वह बिलकुल नहीं है। चीनियों में इस तरह आनुष्ठानिक धर्म न होने पर भी यह कोई नहीं कह सकता कि वे चरित्रहीन या निकम्मे हैं। यद्यपि वे बहुत दिनों से अफ़ीम की पिनक में 'अंटा गफ़ील' पड़े रहे हैं तो भी उनकी नैतिक रीढ़ टूट नहीं गयी है। चीनी सौदागर जो ज़बान से कबूल कर लेते हैं वह तमस्सुक दस्तावेज के समान हो जाता है। वे कभी अपनी बात से नहीं लौटते। चीनी कारीगर जैसे शिल्पकुशल होते हैं, सो सभी लोग जानते हैं। 'हिकमते चीन हुज्जते बंगाल' की मसल सर्वत्र मशहूर है। भारत-वर्ष के हलजोते किसान और मज़दूरी करने वाले सब प्रकार के धर्म कर्म करते रहने पर भी काम-काज में धोखा धूर्तता और लेने-देने के व्यवहार में जाल-फ़रेब करके, मुक़दमेबाज़ी में इजलास-मार्ग का कछुआ तोड़ने में ज़िन्दगी बिताते हैं। उनकी बात पर भरोसा करने से काम नहीं चलता। गरज यह कि बाहरी धर्मानुष्ठान के साथ भीतर की धर्मवस्तु का बिलकुल ही कम सम्बन्ध देखा जाता है। धर्मानुष्ठान और धर्म संस्कार का जितना ही आन्दोलन होगा उतना ही धर्म विरोध बढ़कर स्वादेशिक एकता का नाश होगा। जापानी धर्म के मारे उन्मत्त नहीं होते। पर उनके ऐसी अजेय स्वदेशभक्त जाति जगत में कहाँ है? मुसलमानों में आनुष्ठानिक

धर्म की बड़ी तेज़ी है। इसी कारण जगत की और सभ्यताओं के साथ इसलाम सभ्यता का सर्वत्र ही संघर्ष और पराभव होता दिखलाई देता है। इस युग में छत्रपति शिवाजी ने गेरुआ की ध्वजा फहराकर गौ-ब्राह्मण की रक्षा के मतलब से हिन्दू-साम्राज्य की प्रतिष्ठा के लिये कोशिश की थी। परन्तु उनकी वह चेष्टा व्यर्थ हुई। क्रूसेड और जेहाद के दिन अब नहीं रहे। धर्मपताका उड़ाकर लात के ज़ोर से मेदिनी कँपाने का युग बीत गया। अब देशभक्ति का युग आया है। इसमें धर्म्मनिरपेक्ष Nationalism या स्वादेशिक जातीयता ने सबसे ऊँचा आसन पाया है। आनुष्ठानिक धर्म अब अलग अलग होकर इसके नीचे पड़े रहेंगे।

यह कह कर विवेकानन्द की आत्मा चली गई। मैं उनकी बात सुनकर और अवाक् हो रहा। जो सदा गेरुआ पहन कर धर्म्म धर्म करते हुए दुनिया भर घूमते रहे, वे ही अब प्रेतयोनि में जाकर धर्म को मिट्टी के नीचे दबाने की सलाह देते हैं। उनकी राय में देश की मिट्टी ऊपर रहेगी और धर्म रहेगा उसके नीचे। तब मिट्टी के नीचे रहने से कुछ काल पीछे धर्म भी मिट्टी हो जायगा। पर हिन्दू अपना धर्म मिट्टी नहीं कर सकते। भारत के मुसलमान भी ऐसा करने पर तैयार नहीं हो सकते। क्योंकि उनको सदा रूम के सुलतान और मक्के की ओर मुँह करके रहना होगा। उनके पैर जिस मिट्टी पर हैं, उसकी ओर ध्यान रखने से उनका नहीं चलेगा।

इसके बाद हम लोगों ने स्वदेशी भूतों के बदले विदेशी प्रेत पुकारे। थोड़ी ही देर में एक ममदो भूत मिडियम के माथे पर आकर

"बँ सोया बँ सोया" कह कर हम सबका अभिवादन करने लगा। हम लोगों में एक सज्जन अनेक भाषाओं के जानने वाले थे। उन्होंने भूत की बातें समझ कर कहा--"यह फ्रांस के एक मशहूर आदमी की प्रेतात्मा है।" नाम पूछने पर उसने दांतन (Danton) बतलाया। कहा —"हम फ्रांसीसी राष्ट्र-विप्लव के समय मर्त्यलोक में थे। उस ज़माने में मेरी गिलेटिन में अपमृत्यु हुई थी। तब से मेरे नाम किसी ने गया में पिण्डदान नहीं किया, इस कारण भूखा-प्यासा भटकता-भटकता अब कुछ दिनों से गया-धाम के निकट आ पड़ा हूँ।"

मुझे उससे बातें करने की बड़ी उत्कण्ठा हुई है। मैंने समाज और राष्ट्र की बहुत सी बातें उससे पूछीं। उसने जवाब में कहा— 'फरांसी विप्लव के समय हम लोगों ने धर्म, समाज और राष्ट्र तीन को चकनाचूर कर दिया और उन्हीं के ढेर पर साम्य,स्वाधीनता और मैत्री का झण्डा गाड़ा था। हम लोगों ने अच्छी तरह समझ लिया था कि धर्म, समाज और राष्ट्र ये तीनों एक सूत में पिरोये हुए हैं। इनमें से किसी दो को रखकर तीसरे को नष्ट करने से काम नहीं चल सकता। अगर तोड़ना हो तो तीनों को एक साथ ही तोड़ देना होगा और रखना हो, तो तीनों को एक साथ ही रखना होगा। हम लोगों को तोड़ने की ज़रूरत थी, इस कारण तीनों को एक साथ ही तोड़कर उनका पास डाल दिया था।

विदेशी प्रेतात्मा की यही बात मुझे ठीक जँची। लेकिन फ्रांस में और हमारे देश में बड़ा अन्तर है। शान्तिमय भारत के

समाज और राष्ट्र को सब तरह से बचाना ही जब हम लोगों का उद्देश्य है, तब धर्म की भी ज़रूर इसके साथ सब तरह से रक्षा करनी होगी। कलिकाल में धर्म नीचे गिरा जा रहा है। इस कारण अनुष्ठान और संस्कार की थून्ही देकर धर्म का पुराना भँकड़ा हुआ घर किसी तरह खड़ा रखना होगा। यदि यह घर गिर जायगा, तो गोबर-गणेश और उसके ऐसे अगणित धर्मप्राण लोगों को सिर रखने को जगह नहीं रहेगी।

---

# शिक्षा के चार प्रकार

( श्री काका साहब कालेलकर )

आज हम देखते हैं कि चार प्रधान आदर्शों को लेकर लोग शिक्षा ग्रहण करते हैं। शिक्षा का सबसे सामान्य और व्यापक कारण या हेतु है, स्वार्थ। मेरी रुचि परिष्कृत हो, समाज में मैं प्रतिष्ठित माना जाऊँ, लोग जितना कमाते हैं, उससे मैं अधिक कमा सकूँ, ऐशोआराम के अधिक साधन जमाऊँ, मनमाना और ग़ैर-ज़िम्मेदार जीवन बिताऊँ, और आखिर उस दशा को पहुँच जाऊँ कि जहाँ जाने पर मुझे किसी की पर्वाह न रहे, किसी के लिये या प्रति मैं ज़िम्मेदार न रहूँ, कोई मुझे उलाहना न दे सके और कोई मेरा कुछ बिगाड़ न सके ' स्वार्थ या धनोपार्जन की इस शिक्षा के मूल में कौटुम्बिक विचारों का गुनताड़ा लगा रहता है। स्त्री-पुत्र सुखी रहें, उन्हें हाथों से काम न करना पड़े, भविष्य की चिन्ता उन्हें न सताये, दिन-दिन प्रतिष्ठित समाज में उनका स्थान स्थिर होता जाय, इन बातों की इन्तज़ारी इस आदर्श के मूल में है। यह आदर्श नितान्त स्वार्थपूर्ण होता है। इस आदर्श का वरण करने वाले व्यक्तियों में निर्दय स्पर्धा मात्र पाई जाती है। इस कारण

इस आदर्श पर चलने वालों में सामाजिक सद्गुणों का विकास नहीं होता। जनसाधारण की भाषा में यह आदर्श स्पष्ट व्यक्त होता है। विवेकशील लोग इसी को दम्भ या आत्म-वंचना के आवरण में ढक कर काव्यमय बना देते हैं, लेकिन इस काव्य के पीछे छिपे हुए सच्चे स्वरूप को पहचानना ज़रा भी मुश्किल नहीं।

शिक्षा या तालीम का दूसरा उद्देश्य संस्कारिता है। संस्कारिता पवित्र शब्द है। संस्कारिता का अर्थ है हर तरह की कुलीनता – खानदानी संस्कारिता का दूसरा अर्थ है पवित्र जीवन की स्वाभाविकता। तीसरे अर्थ में संस्कारिता सब शक्तियों के सुन्दर और परम्परानुकूल विकास का नाम है। संस्कारिता में सब उत्तम शक्तियों का सुन्दर मिलाप होता है, लेकिन आज तो संस्कारिता का भी एक दूसरा नितान्त साधारण अर्थ होने लगा है। जब आदमी खा-पीकर आराम से रहता है तब अपने अवकाश-प्रचुर जीवन को एक-न-एक काम में लगाये रखने के लिये जो अनेक प्रवृत्तियाँ सूझती हैं, उनमें से विशेष प्रकार की कुछ प्रवृतियाँ संस्कृत मानी जाती हैं। सुन्दर चित्र देखने और पसन्द करने की कला अवगत हो, संगीत में से अधिकाधिक रसपान करने की योग्यता हो, दुनियाँ के परिपक्व साहित्य की उत्तम रचनाओं से परिचय हो, गुणियों का सम्मान करने की रुचि हो, समाज की दृष्टि से इष्ट माने जाने वाले हर एक कार्य में दिलचस्पी रखने की शक्ति हो, भोक्ता, आतिथ्य-प्रिय और आश्रयदाता के रूप में अपने जीवन को सफल बनाने की

सामर्थ्य हो, तो मनुष्य संस्कारी माना जाता है ।

ये संस्कारी पुरुष प्रत्येक समाज के भूषण हैं । वर्ग-विशेष के लोकमत को शिक्षित बनाने में इनका हिस्सा प्रशंसनीय होता है। समाज की शृंगार-रूप प्रवृत्तियां ऐसों ही का आश्रय पाकर जीवित रह सकती हैं। ऐसे लोग उदारता, सात्त्विकता, व्यापक रसिकता और निष्पक्षता की दृष्टि से सहज ही प्रसिद्धि पा सकते हैं। बिलकुल थोड़े प्रयत्न से होने वाले कामों में हाथ बटाकर ये लोग श्रेय के भागी बनते हैं। इनके पास हर एक सुन्दर वस्तु का कुछ-न-कुछ अंश होता ही है। ये लोग किसी चीज़ के लिये भगीरथ प्रयत्न भले न करें, रात-दिन किसी-न-किसी काम में तो लगे ही रहते हैं। इस तरह की संस्कारिता से अनेक सुन्दर फल निकलते हैं। और कोई लाभ न होता हो; तो भी, धनवानों को बुरे व्यसनों से बचाने के लिये यह संस्कारिता ही एक प्रभावशाली साधन है। किसी समाज का दर्जा ठहराते समय यह बात खासकर देखी जाती है कि उसमें इस तरह की संस्कारिता किस हद तक फैली हुई है । संस्कारिता के द्वारा मध्यम श्रेणी के गुणवान लोगों और अमीरवर्ग के कला रसिक लोगों के बीच सुन्दर सम्बन्ध स्थापित होता है, और ऐसे सम्बन्ध में किसी को आश्रित-पन का शूल भी नहीं खटकता ।

शिक्षा का तीसरा आदर्श है सत्ता, सामर्थ्य और ऐश्वर्य । महत्त्वाकांक्षा, अविरत उद्योग, कमज़ोरी का तिरस्कार और अन्धी जागरूकता, इस आदर्श के मुख्य लक्षण हैं। दूसरों से मैं आगे कैसे बढ़ूँ, हर एक साधन, हर तरह की सम्पत्ति मेरे हाथ में कैसे

आवे, हर प्रकार के छोटे-बड़े मनुष्यों पर मेरा अधिकार कैसे जमे, इन्हीं बातों की आकुलता उस आदमी में पाई जाती है, जो इस आदर्श के रास्ते चलता है। ऐसे लोगों में दुनियां में क्या क्या हो रहा है, कौन से समय कौन मौका सध सकता है, इस बात की चाणाक्षता ख़ास तौर पर देखी जाती है। ऐसे लोग हर एक बात की जाँच करते हैं। हां, सिर्फ अपने आदर्श को जांच की कसौटी पर नहीं चढ़ाते। इस बारे में अन्धे बने रहना ही मानों इन्हें प्रिय होता है।

इस आदर्श का शिक्षाक्रम अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी होता है। ऐसी वैसी कमज़ोर-पोची बातों को तो इसमें स्थान नहीं होता। ऐसे लोग इस बात की फ़िक्र ज़रूर रखते हैं कि संस्कारिता के साथ उनकी अनबन न हो, लेकिन यहां भी महत्त्वाकांक्षा की दृष्टि तो रहती ही है।

धनोपार्जन के लिए शिक्षा और सत्ता के लिए शिक्षा में माननेवाले शिक्षा मात्र को साधन-रूप मानते हैं, मगर संस्कारिता-वादी लोग सदा यही कहते पाये जाते हैं कि शिक्षा तो शिक्षा के लिए ही होनी चाहिए।

शिक्षा का चौथा आदर्श सेवा का है। जीवन का सर्वोच्च आनन्द सेवा में है, सेवा द्वारा आत्मोन्नति और समाजोन्नति दोनों सुसाध्य बन सकते हैं, सेवा ही में जीवन की कृतार्थता

सन्निहित है, इस आदर्श का यह निश्चय होता है—यही इसका सिद्धान्त वाक्य है।

इस आदर्श का व्रती साधन जुटाता, शक्ति का संग्रह करता, सत्ता का अनुभव करता तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, मगर इन्हें उसी हद तक इष्ट मानता है, जब तक ये उसके सेवा-कार्य में मदद पहुँचाते हैं। शेष सबको या तो विघ्नरूप मानता है, या भाररूप। सेवा के आदर्श का पुजारी जब शिक्षा का क्रम तैयार करता है, तो बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके ऐसी कोई वस्तु छूटती नहीं, जो आवश्यक हो, ऐसी कोई चीज़ ध्यान बँटाती नहीं,जो अनावश्यक हो। इसका सौरभ मुख्यतः सेवक की एकाग्रता, सेवक की निष्ठा, उसके त्याग और संयम में ही होता है। वह जानता है कि संयम ही संस्कारिता का भूषण है, संयमहीन संस्कारिता अधःपतन की ओर ले जानेवाली विलासिता है। वह जानता है कि नैतिक सत्ता तो संयम द्वारा ही मिलती और टिकती है। वह यह भी मानता है कि कार्य के लिए साधन का अभाव कष्टरूप भले हो, विघ्नरूप या आपरूप तो कदापि नहीं है, लेकिन साधन की अतिशयता में तो दोनों दोष आ जाते हैं। अतएव सेवा की शिक्षा इस बात की चिन्ता रखती है कि कहीं साधन सम्पत्ति आवश्यकता से अधिक बढ़ न जाय। वह इस बात के लिये चिन्ता-शील रहती है कि कहीं जीवन-रस बहुशाख न बन जायँ।

सेवा की शिक्षा में दिव्य श्रद्धा होती है। गागर में सागर

भरा होता है। चाहे जिस एक दिशा में प्रगति करो, उसके द्वारा जीवन का सारा क्षेत्र सावित हो जायगा। लालच में फँस कर दशों दिशाओं में भटकने की आवश्यकता नहीं। सत्य संकल्प और अविरत एकाग्र प्रयत्न हो तो साधन, सत्ता, संस्कारिता वगैरह तमाम चीज़ें अपने आप उसके पास चली आवेंगी। हमें उनके पीछे पीछे भटकने की आवश्यकता नहीं। सेवक में यह अमर श्रद्धा होती है। इस कारण सेवा की शिक्षा को अपूर्णता का भय नहीं रहता, एकांगीपन की शंका नहीं रहती। अगर कोई खामी या कमी रही भी, तो वह जीवन द्वारा अपने आप परिपूर्ण बन जायगी। इतनी उसमें स्वस्थता रहती है, वह किसी वस्तु के अभाव में अस्वस्थ नहीं होती, न किसी की प्राप्ति में हर्षोन्मत्त बनती है। यह उसका स्वभाव ही नहीं। पतिनिष्ठ सती को कौटुम्बिक सुख कुछ कम नहीं मिलता। पतिनिष्ठा के कारण ही वह विशाल कुटुम्ब में सरलतापूर्वक एक रूप हो जाती है और आशीर्वाद-रूप सिद्ध होती है। पतिनिष्ठा के कारण ही वह त्याग और भोग का समन्वय कर सकती है, पतिनिष्ठा की वजह से ही वह शेष सब वस्तुओं की तरफ़ से लापर्वाह रहकर भी उसमें से उत्तमोत्तम रसपान कर सकती है। सेवावृत्ति की भी यही स्पृहणीय स्थिति होती है।

हम यह तो नहीं कह सकते कि ये चारों आदर्श एक दूसरे से एकदम पृथक् रहते हैं। मनुष्य-जीवन इतना गूढ़ है कि उसके तमाम पहलू एक दूसरे से सङ्कलित हैं। एक ही वृत्ति का सदा के लिए टिक सकना—स्थायी बन जाना कठिन है। एक हद्द-विशेष

तक तो उपर्युक्त चारों आदर्श एक दूसरे के अविरोधी भी हो सकते हैं। इसी कारण एक ही उद्देश्य को सामने रखने पर भी शिक्षा के क्रम में थोड़ी विविधता, विशालता और अव्यवस्था को भी स्थान देना पड़ता है, लेकिन अगर उद्देश्य स्पष्ट हो तो यह अव्यवस्था बहुत-कुछ कम हो सकती है और एकाग्रता में परिणत की जा सकती है। अभी शिक्षा पानेवालों में और शिक्षा देनेवालों में इस उद्देश्य की स्पष्टता नज़र नहीं आती। जो शिक्षा देश आज तक लेता आया है. उसका दावा चाहे जो हो, परिणाम पर से तो यही मालूम होता है कि वह धनोपार्जन के पीछे पागल हैं। तिस पर भी उसमें पुरुषार्थ पूरा पूरा नहीं पाया जाता। उपाधि-वितरणोत्सव के अवसरों पर गवर्नर और वायसराय जो भाषण करते हैं, नसका अर्थ तो उनके जीवन और राजनीति की व्याख्या पर से ही किया जा सकता है न? इस शिक्षा के आदी लोग सरकार के साथ असहयोग भले करें, वे इस शिक्षा द्वारा सूचित जीवन के साथ क्वचित् ही असहयोग करते हैं। इसी कारण शिक्षा में राष्ट्रीयता या सेवा प्रधान शिक्षा की बात सहज ही उनके गले नहीं उतरती। उलटे इन बातों को सुन कर वे सचमुच ही उदास और अस्वस्थ बन जाते हैं। जिनके हृदय में स्वराज्य साधना का उदय ही न हुआ हो, वे सेवा परायण शिक्षा को पहचान न सकें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? वे इस बात को कैसे समझ सकें कि सेवा प्रधान शिक्षा तो त्यागवृत्ति को ही उत्तेजन देती, और राष्ट्रीय उद्योग की प्रधानता को ही कबूल करती है? लेकिन उनके न

समझने का हमें दुख नहीं। जो राष्ट्रीय शिक्षा के व्रती हैं, उनके मन में अगर इस सम्बन्ध में कोई शङ्का न रहे तो समाज को समझाते उन्हें बहुत देर नहीं लगेगी। समाज दलीलों से न समझेगा उदाहरणों से न समझेगा, लेकिन क्या फल चखने पर भी न ससझेगा? ज़रूर समझेगा।

---

# आँख

( श्री सत्य जीवन वर्मा एम० ए० )

सवेरे आँखें खुलीं तो आँखें उनींदी थीं। देखा तो कंजी आँखोंवाली बिल्ली सामने खड़ी है। ये भी कोई आँखें हैं ? आँखें कटीली हों तब बात। यह नहीं कि कबूतरों की भाँति ग़िलाफ़ी आँखें लिये बैठे हैं। चंचल आँखों में स्फूर्त्ति दिखाई पड़ती है। आँखें चियाँ सी ( छोटी ) न हों। इतनी चोर की उनमें सुरमा भी न मालूम हो। धँसी हुई आँखें भी कोई आँखें हैं। आँखें मतवाली हों, मदभरी हों, रसभरी हों, रसीली हों, शरबती हों, तब आँख।

संसार में रहना है तो चारों ओर आँख रक्खो। यदि आँख नहीं तो अच्छे बुरे की परख कोई क्या करेगा। और फिर यह भी नहीं कि बुराई पर ही आँख रहे। आँखें रहें तो ग़रीबों पर, बच्चों पर। यों तो आँखों का सभी काम अच्छा नहीं होता ; आती हैं तो आफत-दर्द से परेशान—जाती हैं तो... ! उठती हैं तो फिर वही परेशानी, बैठती हैं तो...ईश्वर न करे ! आँखें उठाइये तो अच्छाई की ओर। और ऐसे रहिए कि आपके देखते आपके मित्रों पर कोई आँख न उठा सके। उन्हें न समझाइये जो आँख

उठा कर देखते भी नहीं, गर्व के मारे जिनकी आँख उलट गई हैं; क्योंकि कभी ऐसा समय आता है जब उनकी आँखें ऊँची नहीं होतीं। पर यह सब सिर्फ सामने होते, और नहीं तो आँख ओट पहाड़ ओट।

पढ़ते पढ़ते आँखें कुड़आने लगती हैं। ऐसे आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे कितने हैं जिन्हें लोग मूर्ख बना सकें। हमें तो यह पसन्द नहीं कि हम किसी की आँख के कांटे बनें, वर्ना हम तो ऐसा आँख का काजल चुराते कि लोग समझते कि उनकी आँखें चली गईं–उनकी आँखों में जाला पड़ गया ढेला पड़ गया। आँखों का तेल निकलना ठीक नहीं। यह भी क्या कि रात-दिन सीना-पिरोना लिखना-पढ़ना। यदि यही हाल रहा तो आँखों के तारे भी मन्द पड़ जायँगे। आँख कान खोल कर रहना चाहिए। मगर जब तक अपने पर बीतती नहीं तब तक आँखों का पर्दा भी नहीं उठता। उनकी बात जाने दीजिए, जिनकी आँखों का पानी ढल गया है। वे जो चाहें कर डालें। पर जिसकी आँख का पानी ढल गया वह समाज की आँखों की किरकिरी बन गया। हमसे आप क्या कहते हैं, आँख की बदी भौं के आगे? अजी, उसकी बुराई तो मेरी बुराई। वे मेरे मित्र। और आप तो आँख की सूइयाँ निकालना चाहते हैं। केवल शिकायत से तो काम नहीं बनेगा। समाज का सुधार केवल शिकायत से नहीं होता है।

थोड़े ही दिन हुए मुझे जाने क्या हो गया। चलता हूँ तो आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, चिनगारियाँ छूटने लगती हैं,

आँखों के तारे छूटने लगते हैं। आँखें नाचने लगती हैं। और आप ऐसे समय आँखों के आगे पलकों की बुराई करने आये हैं। यह सब कहीं छिपी रहेगी। मेरी बात मानिये। बच्चों को अपनी आँखों के आगे रखिये। दूसरों के घर भेज कर उन्हें आँखों से ओझल करना ठीक नहीं। कितने ऐसे हैं जो सन्तान के विरह में इतने रोये-धोये कि आँखों को रो बैठे। तब उनकी आँखें खुलीं और वे उन्हें दोष देने लगे। मेरी बातें आपको आँखों में खटकती होंगी पर मैं तो तुम्हारी आँखें खोलना चाहता हूँ। इसके लिए किसी महात्मा के यहाँ न जायें। एक मित्र की बात भी महात्मा के उपदेश से कम नहीं।

दुनियाँ में एक से एक बढ़कर चीजें हैं। किस किस पर आँख गड़ाते रहेंगे। अगर कहीं गड़ी तो उसे लेकर ही छोड़ेंगे पर सब से आँखें मिलाना ठीक नहीं। छिप-छिप कर नशा पीना छिप जाय पर आँखें चढ़ती हैं तब मुँह से सीधे बात भी नहीं निकलती। तब आप किसी की आँखों से बच नहीं सकते। लोगों की आँखें चरने नहीं चली जातीं। आपका आंख चमकाना, आँखें फाड़ फाड़ कर देखना, आँखें चुराना, आँखें छत से लगाना, आखें छिपाना, आँखें झपकना आदि देखने से लोगों की आँखें चूक नहीं सकतीं। आपकी आँखें टँगी हों तो उसे देखकर घर वालों की आँखें ठण्डी नहीं होवेंगी। आप चाहे कितना ही आँखें टेढ़ी करें पर आपकी दशा सुनते ही घरवालों की आँखें डबडबा आवेंगी। सब यही कहेंगे कि बुराई पर आँख न डालो। आप रुष्ट हो जावेंगे

खाना छोड़ बैठेंगे, पर दो ही दिन के उपवास से आँखें ढकर-ढकर करने लगेंगी। फिर तो तुम्हारी पहली सी भोली सूरत देखने के लिए लोगों की आँखें तरसने लगेंगी। आप आँखें क्या तरेर रहे हैं मेरी बातें आप भले ही आँखों तले न लावें – उन्हें तुच्छ समझें— आजकल का जमाना ही ऐसा है। सच कहिए तो लोग आँख दिखाते हैं, पर आँख दीदे से डरा करो। पाप का फल अच्छा नहीं होता। देखने वाला ऊपर है। ज़रा सी आँख दुखी तो देखते-देखते आप क्या से क्या हो जाते हैं। आँख देखते रहा नहीं जाता, नहीं तो हमसे क्या वास्ता। हम अपनी आँखों देखी बात कहते हैं कि आप खुद आँखें दौड़ावें तो ऐसे बहुत कम आदमी मिलेंगे, जो खरी खोटी सुनावें। सच कहने वाले बहुत कम हैं। जरा दुनिया की ओर आँखें उठाइये, आँखें खोल कर चलिये।

सवेरे से ऐसी तेज़ धूप निकली है कि आँखें चकाचौंध होती हैं। सामने के मन्दिर की पीतल की कलसी ऐसी चमकती है कि आँखें नहीं ठहरतीं। अभी उस दिन की बात है कि वहाँ एक स्त्री पूजा करने आई थी। उसका हाथ छूट गया। वह आँखें नीची किए खड़ी रही। कुछ बोलती ही न थी। अपने समाज की यह दशा देखकर आँखें नीची हो जाती हैं। आप किसी से कहिए तो लोग आँखें निकालने लगेंगे, आँखें नीली-पीली कर चढ़ दौड़ेंगे। पर क्या उनकी आँखें फूट गई हैं जो अपनी स्त्रियों पर आँखें नहीं पड़तीं। हिन्दू समाज सदियों से अकर्मण्य हो रहा है। उसकी आँखें तो मोक्ष का मार्ग देखते-देखते पथरा गई हैं। ज़रा पश्चिम को

देखिये। अपनी स्त्रियों को आँखों पर बैठाते हैं। पर हमने मानों आँखों पर ठीकरी रखली है, जान-बूझ कर अनजान बनते हैं। प्रत्यक्ष बातों पर भी आँखों में पट्टी बाँधते हैं। हमारी आँखों पर तो परदा पड़ा है। सच्ची बातें क्योंकर मन में धसेंगी। मानी हुई बात है कि आँखों पर पलकों का बोझ नहीं होता। अपनी चीज़ का रखना किसी को भारी नहीं मालूम पड़ता। सभी अपनों को आँखों पर रखते हैं। पर हमारे समाज के लिये हमारी विधवाएँ भार हो रही हैं। अब ज़रा आँखें फैलाइये। समय बदल गया है। ज़रा आँखें फाड़ कर देखिये। ज़माने की आँखें फिर गई हैं। पर हमारी तो आँखें फूटी हैं कि सामने की वस्तु भी हमें नहीं दीखती यही कारण है कि दुनियाँ भी हमसे आँखें फेर रही है। केवल धर्म-ग्रन्थों में आँख फोड़ने से काम न चलेगा। आँखें मूँद कर भी कोई समझदार काम करता है! इससे तो अच्छा है कि आँखें बन्द हो जाँय। आँख बचाकर कोई काम करना बुराई को बढ़ना है।

संसार ऐसा स्वार्थी है कि काम निकल आने पर आँखें बचाता फिरता है। लोगों की आखें बदल जाती हैं। सामने पड़ेंगे तो आँख बराबर न करेंगे। पकड़े गए तो आँखें बहाने लगेंगे। और नहीं तो पहले स्वागत में आँखें बिछाते थे। अपनी कहते थे, हमारी सुनते थे। हमारा दुःख सुन उनकी आँखें भर आती थीं. जब तक हमें देख न लेते, तब तक उन्हें सन्तोष न होता था। पर अब ज़रा कुछ कहिये तो आँखें भी टेढ़ी कर लेंगे। मामला बनता हो तो ऐसी

आँख चमका देंगे कि सब भड़क जाय। और पूछने पर ऐसी आँखें मलेंगे मानो सो कर उठे हैं। अगर चूके तो फिर वही आँखें मार कर काम बिगाड़ना। यही तो कारण है कि वे आँखें नहीं मिलाते। और कहीं आँखों का सामना हुआ भी तो आँख में आँख डाल देंगे, और ऐसी डिठाई से ताकेंगे मानो उनका आचरण किसी की आँखों में खटकता ही नहीं। इसी पर तो आँखों में खून उतर आता है। पहली भेंट में तो आँखों में घर कर लेंगे, और ऐसे आँखों में चढ़ जायेंगे जैसे परम मित्र हों। पर ज़रा सा अधिकार मिला कि आँखों में चरबी छा जायगी, किसी को पहचानेंगे भी नहीं? लोगों की यह हरकत क्या किसी की आँखों में चुभती नहीं? पर उनकी आँखों में तो टेसू फूला है—अपना ही सा देखते हैं। जी में आता है कि उनकी आँखों में तकुआ भोंक दूँ, तब आँखों में तरावट मिले। दूसरों की आँख में धूल झोकते हैं! उनके आँखों में धूल झोंकने से किसी की आँखें थोड़ी फूट जावेंगी। वे समझते नहीं कि दूसरो की आँखों में धूल देना कोई आसान काम नहीं।

उन्हें देखिये अपने बच्चों को पालते हैं। कितना लाड़-प्यार करते हैं और हैं भी कैसे सुन्दर! एक बार देख लो तो आँखों में बस जाँय। इसी से तो सभी उन्हें आँखों में रखना चाहते हैं। ज़रा सा बीमार पड़े तो माँ आँखों में रात काट देती है। उनके नौकर ऐसे हैं कि आँखों में शील नहीं। दुख-सुख में साथ देनेवाले नहीं काम पड़ेगा तो आँखें मोड़ लेंगे। किस को फुसरत है कि इन पर आँख रक्खे। माँ अपने बच्चों के फेर में रहती है। पिता आफ़िस

में रहते हैं। दूसरे के बोलने पर नौकर आँखें दिखाने लगते हैं। ऐसे नौकर जल्दी ही आँखों से उतर जाते हैं। अगर यही चाल रही तो नौकर रखने की कौन कहे, कोई उन्हें आँख से भी न देखना चाहेगा। जो रक्खेगा भी, वह यही सोचता रहेगा कि ये जल्दी जायँ—आँख फूटे पीर जाय।

---

# रहस्यवाद

( श्री सद्गुरु शरण अवस्थी )

हिंदी-संसार में रहस्यवाद के सम्बन्ध में विचित्र विचित्र धारणायें व्यक्त की जा रही हैं। ऐसे ऐसे कवियों को भी रहस्य-वादी कवियों की कोटि में ढकेला जा रहा है, जो रहस्यवाद से कोसों दूर हैं। वास्तव में भाव-गम्भीरता, भाषा-क्लिष्टत्व तथा विचार जटिलता के कारण अभिव्यक्ति में जो दुरूहता आ जाती है, वह रहस्यवाद नहीं है। हिंदी-रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कोष में रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो। कभी कभी अध्यात्म-संबंधी विचित्र धारणा के उपहास के लिये और कभी कभी ईश्वर और संसार सम्बन्धी असाधारण विवेचना को मखौल उड़ाने के लिये भी रहस्यवाद शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ईश्वर और संसार का सम्बन्ध, संसार की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और लय का इतिहास सारे संसार को आदिकाल से मुग्ध किये है। इस मुग्धता में विस्मय है, विस्मय में

उद्वेगाग्नि है। इसी लिये चित्त क्षुब्द और अशांत रहता है। क्षोभ और अशान्ति में सुख का ह्रास होता है। अतएव सुखापेक्षी नर-समाज का चिंतनशील समुदाय इस गुत्थी को सुलझाने के लिये अपनी सारी शक्ति अनन्तकाल से व्यय कर रहा है। ससीम ज्ञान असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनंतकाल से कर रहा है, परन्तु उसमें शांति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिये ससीम हृदय उत्कंठा से निकला। यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है। चिंतन-जगत में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत में वही रहस्यवाद कहलाता है।

भारतीय ग्रंथों में रहस्यवाद की सुन्दर व्याख्या गीता के अधोलिखित श्लोक में मिलती।

सर्वभूतेषु येनैकं भावगम्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्विकम् ॥

परन्तु काव्यगत रहस्यवाद का ज्ञान से संबंध न होकर हृदय से है। मानसिक विकास-द्वारा ज्ञान से ऐक्य अनुभव करना दूसरी बात है, और भावातिरेक-द्वारा हृदय से भावात्मक ऐक्य स्थापित करना दूसरी बात। काव्यस्वीकृत रहस्यवाद का संबंध दूसरे प्रकार से है, पहले प्रकार से नहीं। यद्यपि अंततः दोनों का आशय एक ही है, परन्तु साहित्य में दोनो के क्षेत्र भिन्न हैं। एक को दर्शन के और दूसरे को काव्य के अंतर्गत रक्खा गया है।

रहस्यवाद वास्तव में कोई 'वाद' नहीं है। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है। भिन्न भिन्न रहस्यवादियों ने समूचे तथ्य

का कोई न कोई अंग-निरूपण करके सत्य की अभिव्यक्ति में कुछ न कुछ नई बात कही है। उस महान अखंड शक्ति के आलोक का आभास भक्तजनों का पृथक् पृथक् कोण से मिला है।

सुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाय कै।
जेहि टोवा तेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा॥

रहस्यवादियों की अपनी मनोवृत्तियों ने उसका रूप सँवारा है। यही कारण है कि पहुँचे हुए संतों के अनुभव एक दूसरे से भिन्न और कहीं-कहीं पर परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं। अंगरेज़ी कवि वर्डसवर्थ को दैवी अभिव्यक्ति का साक्षात्कार प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त हुआ था, और इसी लिये वह प्रकृति का उपासक था, परन्तु वही प्रकृति का स्थूल स्वरूप दूसरे रहस्यवादी कवि ब्लेक के लिये अखंड सत्ता के अवगत करने में विरोध उपस्थित करता था।

वास्तव में रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का कोई-न-कोई स्फुलिंग जीव के निर्माण में निहित है। उसी स्फुलिंग-द्वारा—उसी दैवांश द्वारा—वह उस अखंड सत्ता की अनुभूति कर सकता है। रहस्यवादी का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बुद्धि द्वारा मनुष्य भौतिक पदार्थों का निरूपण करता है, उसी प्रकार अध्यात्म भावना-द्वारा-मनुष्य रहस्यमय अखंड सत्ता का अनुभव कर सकता है। परन्तु बुद्धि और भावना के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। रहस्यवादी उसे मूर्ख समझता है, जो अध्यात्म-निरूपण में बुद्धि का प्रयोग करता है।

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तो पाओ कछु सार॥

'कबीर'

रहस्यवादी जीव के विभिन्न चित्रों और जन्मांतर के विभिन्न संस्करणों के समूचे संकलन को एक साथ तारतम्य में देखता है। इसी लिये उसे जन्मांतर में विश्वास करना पड़ता है। आत्मा की नित्यता उसके रहस्यमय भाव-प्रासाद की नीव है। "न जायते म्रियते वा कदाचन" अथवा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" रहस्य-वादी के अद्वैतवाद की पुष्टि ही करते हैं। इस प्रकार के जन्मांतर में विश्वास किसी जाति विशेष के रहस्यवादियों तक ही सीमित नहीं है, जन्मांतर सिद्धांत के घोर विरोधी ईसाई में भी रहस्य-वादी कवि रहते हैं। जन्मजन्मांतरवाद के कट्टर विरोधी मुसल-मान-धर्म के पोषक कविवर मलिक मुहम्मद जायसी ने भी सूफ़ी रहस्यवादी होने के कारण जन्मांतरवाद के चित्र खींचे हैं। 'पद्मावत' का 'सुआ' पूर्व जन्म का ब्राह्मण था। कबीर ने तो खुल्लमखुल्ला जन्मांतर माना है। इसी प्रकार सूफ़ी कवि जमालुद्दीन रूमी, हाफ़िज़ जामी हज्ज़ाम इत्यादि मुसलमानों में भी आत्मा की पुनर्भावना के चित्र मिलेंगे। भारतवर्ष के सन्त कवि तो जन्मां-तर के विश्वास के साथ-साथ विकासवाद को भी कहीं कहीं स्वीकर करते दिखाई देते हैं:—

जन्म एक गुरु-भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति-पद, चौथे में निर्वान॥

परन्तु यह सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक रहस्य-वादी जन्मांतर को माने ही। अँगरेज़ी साहित्य में इसके अपवाद उपस्थित हैं।

धर्म-प्रचारक, विज्ञान-वेत्ता, तार्किक और दार्शनिक तथा रहस्यवादी में बड़ा भारी अन्तर है। विज्ञान-वेत्ता की भाँति रहस्य-वादी रहस्योद्घाटन के लिये बुद्धि से काम न लेकर अपनी निजी भावना और आंतरिक प्रेरणा का प्रयोग करता है। दर्शनकार नवीन शोध को सीधे सामने लेकर अभिव्यक्त करता है। रहस्य-वादी उसका परोक्ष निदर्शन करता है। वह अनुभव करता है कि उसने अखंड ज्योति की लपक देखी। उसने अनहद शब्द सुना है। उसने अमृत-कुण्ड के छींटों से स्नान किया है।

भरत अमिय-रस झरत ताल जहँ, शब्द उठे असमानी हो।
सरिता उमड़ि सिंधु कहँ सोकै, नहिं कछु जात बखानी हो॥

भाषा भावों के विकास से हमेशा पीछे रहती है। भाव की उत्पत्ति के बादतद्रूप भाषा गढ़ी जाती है। भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ट व्यंजना सम्भव नहीं, इसी लिये रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के बिना काम ही नहीं चल सकता है। रहस्योद्घाटन की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है, इसका अनुमान केवल एक ही बात से हो सकता है, लगभग सभी सन्त कवियों ने उस अखण्ड ज्योति के साक्षात्कार के प्राप्त सुख की अभिव्यक्ति में गूँगे के खाए हुए गुड़ की उपमा दी है। कारण

यह कि सभी कवियों की व्यंजना की कठिनता एक सी है। प्रतीक-प्रयोग की भावना के अंतर्गत संसार के ऐक्य की भावना निहित है। इसी लिये रहस्यवादी उसे अपनाता है। वह भी विश्वास करता है कि सब पदार्थों में तिरोहित साम्य है। मानवी प्रेम में दैवी प्रेम का आध्याधार देखता है, इसी लिये संकेत-द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति में गिरती हुई पंक्तियों को देखकर मानव-समाज के ध्वंस का रहस्य सामने आ जाता है। हिलते हुए वृक्ष से प्रकंपित वृद्ध शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है।

बाढ़ी आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग।
हमैं कटे की कछु नहीं पंखेरू घर भाग ॥

'कबीर'

प्रतीक-प्रयोग से अभिव्यक्ति में शक्ति आ जाती है। दैनिक जीवन में दांपत्य-प्रेम अत्यंत तीव्र और व्यापक है। समूचे जीवन-क्षेत्र में उसका प्रभाव अद्वितीय है। इसी लिये कबीर, जायसी मीरा, दादू, दरिया इत्यादि संतों में उसकी भरमार है। वास्तव में दांपत्य-प्रेम के ही विशद् मनोविकार-द्वारा किसी अंश में रहस्य भावमय अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—की कुछ-न-कुछ अभिव्यंजना हो सकती है, अन्यथा असंभव है। गौने जाना, सिलसिली गैल में चलना, विरस में तड़पना सब प्रतीक ही है।

रहस्यवाद तथ्य के आलोक का मानसिक प्रतिवर्तन है। कुछ ऐसे रहस्यवादी हैं, जो सारे निगूढ़ रहस्यों को क्रमशील निबंधना

का साक्षात्कार करते और उसे ज्यों-की-त्यों व्यक्त करते हैं। कबीर को ऐसा ही रहस्यवादी कहना चाहिये । इस साक्षात्कार की उपलब्धि की तीन अवस्थायें हैं–पूर्व-तद्रूप, तद्रूप तथा प्रागतद्रूप तद्रूप होने के प्रयास की आदिम अवस्था से लेकर तद्रूप होने तक की अवस्था को पूर्व तद्रूप अवस्था कहते हैं। तन्मय हो जाने की अवस्था को तद्रूप अवस्था कहते हैं। तथा तन्मय होने के परे की अवस्था को प्राग्-तद्रूप अवस्था कहते हैं। हिंदी में कबीरके रहस्य-वाद में तीनों परिस्थितियां मिलती हैं ।

नाटक में रहस्यवाद की उद्भावना संसार में कहीं नहीं हुई । शेक्सपियर आदि नाटककार रहस्यवादी नहीं हैं । रहस्यमयी भावनायें दर्शकोंके लिये सुबोध नहीं कही जा सकतीं। शेक्सपियर की कृतियोंमें अध्यात्मवादकी अभिव्यक्ति अवश्य है। अध्यात्मवादी और रहस्यवादी में थोड़ा भेद है। अध्यात्मवादी व्यक्तक्रिया-कलाप और गल्पात्मक स्वरूप-विधान के कारण ही खोज में चिंतित रहता है। परंतु रहस्यवादी ऐसा अनुभव करता है कि वह प्रत्येक तथ्य के अंतिम निष्कर्ष को जानता है। इतिहास की भाँति युग के साथ-साथ किसी क्रम से रहस्यवाद का विकास नहीं हुआ । किसी तार्किक क्रम के कटहरे में रहस्यवाद की किसी स्थिति को बंद करना भी कठिन है। हाँ देश-काल की परिस्थितियों द्वारा स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है। हिंदू सिद्धांतानुकूल प्रकृति का आवरण आत्मा को परोक्ष-सत्ता के निरूपण में विघ्न उपस्थित करता है और वह उसके परित्याग की भावना को अत्यन्त तीव्रता

के साथ व्यक्त करता है। सूफ़ी इस प्रतिरोध को नहीं मानता। सूफ़ी भावना से प्रेरित हो कर कबीर ने लिखा है—

मूये पीछे मत मिलो, कहै कबीरा राम।
सोना माटी मिल गया, फिर पारस केहि काम ॥

कबीर इस मिट्टी को—इस शरीर को—प्रतिबन्ध न मानकर उसे भी सोना बनाना चाहते हैं। इस महान् सत्ता के सम्पर्क से जड़-प्रकृति भी चैतन्यमयी हो सकती है। परन्तु उसी समय तक, जब तक उसमें स्वयं उस महान् शक्ति का स्फुलिंग उपस्थित है। सारा विश्व एक बृहत् क्रिया-कलाप का गत्यात्मक पिंड है। उसी में अखण्ड सत्ता का हृदय—जिसे ईश्वर कह सकते हैं—है, और वही सारे स्वरूपों और नाम-रूपों की जाति, उद्गम और ध्वंस का केन्द्र है। इसकी सम्यक् जानकारी अभ्यासी क्रमशः ही उपलब्ध कर सकता है। उसकी उन्नति उतनी ही गति से होगी, जितनी वेगवती उसकी उपास्य-भावना है, और जितना अधिक उसका हृदय परिष्कृत है। उपासना का अभिप्राय स्थूल देववाद की भावना से प्रेरित हो कर पूजा इत्यादि करने का नहीं है।

भारतवर्ष में अद्वैतवाद केवल चिंतन-जगत् तक ही रहा। इस की कुछ झलक उपनिषदों में अवश्य मिलती है, वैसे सारा संस्कृत-काव्य-साहित्य रहस्यवाद से दूर है। यह अवश्य है कि देश की सुख-समृद्धि से मनुष्य बाह्यमुखी अवश्य रहता है, परन्तु जिस भारतवर्ष में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने अपनी अंतर्दृष्टि के पैनेपन से संसार को चकित कर रखा है, वह रहस्यवाद की अभिव्यक्ति से

बचा रहे, यह विचारणीय अवश्य है। यहाँ का सारा संस्कृत-काव्य रहस्यवाद से अधिकतर बचा रहा है। भारतीय धर्म्म में मूर्ति-पूजा की स्थापना करके भावना के लिये एक नई उर्वरा भूमि तैयार की गई। सारी भावना प्रतिभा में संमिलित कर दी गई। सारे संस्कृत-कवियों ने नितांत अर्वाचीन हिंदी-कवियों को छोड़ कर, सारे हिंदी-कवियों ने अपनी भावना के विस्तार के लिये भगवान् के साकार स्वरूप को ही आलम्बन बनाया। इन अवतारी स्वरूपों पर जनता का हृदय भी टिका। चित्रों की सुन्दर-से-सुन्दर व्यञ्जना दिखाई देने लगी। हिंदी कवियों में–कबीर, जायसी और कहीं-कहीं सूर में—जो रहस्यवाद की झलक यत्र-तत्र दिखाई देती है, वह सूफ़ी मत के प्रभाव के कारण। सूफ़ियों के लिये तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे "पर्दे बुताँ" में "नूरे खुदा" देखते हैं, और बुतों के सामने सिज़दा करना उतना ही पाक समझते हैं जितना कि खुदा के सामने। इसी लिए कट्टर सुन्नियों ने सूफ़ियों को काफ़िरों के दल में खदेड़ दिया।

व्यक्त-स्वरूप पर अधिक अनुरक्ति ने सूफ़ियों में अंतर्दृष्टि के अभ्यास को मंद कर दिया। वे अधिकतर बाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रहे। किसी-किसी परिस्थिति में उनके मनोभाव में विकार उत्पन्न हो गया, और सौंदर्य-बाहुल्य का प्रभाव मनोमुग्धकारी न रह कर स्थूल इन्द्रियों में प्रकम्पन उत्पन्न करने लगा। सौंदर्य हृदय में गड़ा तो, परन्तु विस्मय परिपाक स्वरूप गत्यात्मक महान् अक्षय परोक्ष सौंदर्य आलोक की ओर न

ले जाकर मांस-पिंड तक ही सीमित रह गया। इसी से लोग बिगड़े, और बुरी तरह बिगड़े। अमूर्त, गुण, दया, दाक्षिण्य, करुणा आदि के विश्व-रूप सौंदर्य तक उनकी पहुँच न हो सकी। मूर्त पदार्थों तक ही उनका मन टिका। करुणा-सम्पन्न व्यक्ति पर मुग्ध होकर सूफ़ी रहस्य भावना में लीन हो सकते थे, परन्तु करुणा के अमूर्त गुण पर नहीं। हिन्दी-साहित्य के वर्तमान रहस्य वादी कवियों ने किसी अंश तक इस कमी को पूरा किया है। जयशंकर प्रसाद के अजातशत्रु-नामक नाटक में करुणा की व्याख्या में कवि किस प्रकार रहस्यवादमय हो जाता है, उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

> गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
> स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है॥
>
> इत्यादि

रहस्यवाद का सूफ़ीवाद पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसी से प्रेरित होकर सूफ़ी लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री इसी में समझने लगे कि वे सुन्दर स्त्री और सुन्दर बालक की ओर आँखें फाड़कर देखें। इसी से वे ऐहिक विलास में पड़ गये, और भारतीय प्रवाह पहले मूर्तिपूजा की ओर झुका, और अब गुणों के सूक्ष्म सौंदर्य के आलोक में सच्चे रहस्यवाद का चित्र खड़ा कर रहा है।

स्परजन नामक एक अँगरेज़ विद्वान ने रहस्यवाद पर एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उसने रहस्यवादी कवियों को उनकी

चिंतन-प्रणाली के अनुसार कुछ कोटियों में विभाजित किया है उनकी कुछ चर्चा नीचे दी जाती है—

(१) प्रेम और सौंदर्य-संबंधी रहस्यवादी।

(२) दार्शनिक रहस्यवादी।

(३) धार्मिक और उपासक रहस्यवादी।

(४) प्रकृति-संबंधी रहस्यवादी।

पहले कोटि में अँगरेज़ी का प्रसिद्ध कवि शैली आता है। हिंदी के प्राचीन कवियों में जायसी, कबीर और नवीन कवियों में 'भारतीय आत्मा' और 'नवीन' इस कोटि में आ सकते हैं।

दूसरी कोटि में अंगरेज़ी कवि ब्लैक और कहीं-कहीं ब्राउनिंग हैं। हिंदी में जयशंकरप्रसादजी इस कोटि में आ सकते है। गोस्वामी तुलसीदासजी का 'केशव, कहि न जात का कहिए' विनय-पत्रिका का प्रसिद्ध छंद इसी कोटि में आता है।

तीसरी कोटि में मीरा, निर्गुणिये कवि दादू इत्यादि और कहीं-कहीं प्रेमवादी जायसी तथा कुतबन आते हैं। तुलसीदास रहस्यवादी नहीं हैं, परन्तु उनका 'सियाराम मय सब जग जानी' पद इसी कोटि में ही आता है।

चौथी कोटि में अँगरेज़ी कवि वर्डसवर्थ आते हैं। हिन्दी के वर्तमान कवियों में सुमित्रानंदन पन्त और रामनरेश त्रिपाठी के कुछ पद इस कोटि में आ जाते हैं।

फ़ारस और इंग्लैंड के रहस्यवाद के इतिहास से एक बात तो स्पष्ट ही है कि जनसत्तात्मक विचारों की क्रांति से बहुधा

रहस्यमयी भावना का प्रादुर्भाव होता है। ह्वीट्स साहब आयर्लैंड निवासी हैं। कबीर समाज के नीच जुलाहे थे। कभी-कभी बाह्य परिस्थितियों को प्रतिकूलता से भी अभ्यंतर-मुख हो कर लोग रहस्यवादी हो जाते हैं।

यह बात न भूलनी चाहिये कि किसी विशेष 'वाद' में पड़ कर कविता अपना महत्त्व खो बैठती है। रहस्यमयी भावना बड़ी सुन्दर वस्तु है। कविता में उसकी निबंधना कविता के स्वरूप को अत्यन्त आकर्षक बना देती है। परन्तु जब वह कविता की शक्ति किसी 'वाद' विशेष के निरूपण में लगाई जाती है, चाहे वह अद्वैतवाद ही क्यों न हो, तो वह कविता न रह कर केवल तुकबंती ही रह जाती है। कबीर ने ही जहाँ कहीं रहस्यमयी भावना के बिना ही रहस्यवाद के निरूपण के लिये कविता के पद खड़े किए हैं, वहाँ के छन्द बिलकुल नीरस हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तत कथौ गियानी॥

वर्तमान युग की कविता में यद्यपि कबीर की भाँति केवल 'वाद' के निरूपण की कविता में नीरस पद्य संभवतः न मिलेंगे, परन्तु ऊटपटांग चित्रों की भरमार हैं। इनके बीचमें पड़कर सच्चे चित्रों और मार्मिक कवियों को भी लोग संदेह से देखते हैं। 'भारतीय आत्मा' तथा बालकृष्ण शर्मा कहीं पर रहस्यवाद के अच्छे अच्छे चित्र उपस्थित करते हैं। प्रसाद जी एक दार्शनिक

वृत्ति के कवि हैं। वह प्राय: रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं, परन्तु उनमें सर्वत्र रहस्यवाद नहीं है । हां, उनकी चिंतन-शैली दुरूह अवश्य है. और उनके चित्र संश्लिष्ट हैं । उपमायें उनकी अनूठी और भाव-व्यंजना नितांत नवीन है। पं० सुमित्रानंदनजी पन्त अधिकतर विस्मयवाद के रूपक सामने रखते हैं। रहस्यवादी अधिक न होकर वह 'विस्मयवादी' कहे जा सकते हैं । अन्योक्ति का अधिक सहारा लेने के कारण उनके चित्र दुरूह हो गए हैं । इसी लिये लोगों ने उन्हें रहस्यवादी कहना आरम्भ कर दिया। 'निराला' जी की पंक्तियों में जहां-कहीं रहस्यवाद लाने का प्रयास 'किया गया है, वहाँ तुकबंदियों का स्वरूप दिखाई देता है । यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि वर्तमान हिंदी के कवियों में रहस्य-वादी बहुत कम हैं। समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में रहस्यवाद देखना भ्रम है। दुरूहवाद और रहस्यवाद दो भिन्न भिन्न बातें हैं।

—०—

# पत्र-लेखन-कला

( श्री बनारसीदास चतुर्वेदी )

सन् १८८७—

२१ वर्ष का एक फरांसीसी युवक पेरिस की एक मामूली गली में अपने छोटे-से कमरे में बैठा हुआ है। वह कला और गान-विद्या का प्रेमी है। अभी हाल ही में टाल्सटाय की पुस्तक "What is to be done ?" (हमारा कर्त्तव्य क्या है ?) छपी है। इस पुस्तक में टाल्सटाय ने कला सम्बन्धी प्रचलित विचारों पर काफी ज़ोरदार आक्षेप किये हैं। इस पुस्तक को पढ़कर युवक की मानसिक स्थिति डावाँडोल हो गई, क्योंकि अब तक वह टाल्सटाय को अपना आदर्श मानता रहा है। उसने मन में सोचा कि चलो, टाल्सटाय को एक चिट्ठी ही लिख दूँ, वह महान लेखक मेरे जैसे मामूली युवक के पत्र का उत्तर तो भला क्यों देने लगे। उसने टाल्सटाय को एक पत्र भेज दिया, जिस में उसने अपनी शङ्काएँ लिखी थीं, और कुछ दिनों तक उत्तर की प्रतीक्षा भी की, फिर इस बात को भूल ही गया। कुछ सप्ताह इसी प्रकार बीत गये। एक

दिन शाम के वक्त वह अपने कमरे पर लौटा, तो क्या देखता है कि फरासीसी भाषा में एक लम्बी चिट्ठी कहाँ से आई है। उसको खोलने पर मालूम हुआ कि यह तो टाल्सटाय का पत्र है। यह पत्र ३८ पृष्ठ का था, या यों कहिये कि एक छोटा-सा ट्रेक्ट ही था। उस अपरिचित साधारण युवक को टाल्सटाय ने 'प्रिय बन्धु' लिखा था। पत्र के प्रारम्भिक शब्द थे—"तुम्हारी पहली चिट्टी मुझे मिली। उससे मेरा हृदय द्रवित हो गया। पढ़ते-पढ़ते आंखों में आंसू आ गये।" इसके बाद टालस्टाय ने अपने कला-सम्बन्धी विचार उस पत्र में प्रकट किये थे—"दुनियां में वही चीज़ क़ीमती है, जो मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को दृढ़ करे, जो उनमें भ्रातृ-भाव स्थापित करे, और सच्चा कलाकार वही है, जो अपने सिद्धान्तों तथा विश्वासों के लिये त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार हो। सच्चे पेशे की पहली शर्त कला का प्रेम नहीं, बल्कि मानव-जाति से प्रेम है। जिनके हृदय में मनुष्य-जाति के प्रति प्रेम है, वे ही कभी कलाकार की हैसियत से उपयोगी कार्य करने की आशा कर सकते हैं।" टालसटाय के विस्तृत पत्र का सारांश यही था।

इस पत्र ने उस युवक के हृदय पर बड़ा भारी प्रभाव डाला। सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसे यह जँची कि इस विश्व-विख्यात महापुरुष ने मेरे जैसे एक अपरिचित युवक को इतनी लम्बी और सहृदयतापूर्ण चिट्ठी भेजी है। और तब से उस युवक ने यह निश्चित कर लिया कि यदि कोई आदमी अपने सङ्कट के समय में

अन्तरात्मा से कोई पत्र भेजेगा, तो मैं अवश्य ही उसका उत्तर दूँगा, क्योंकि सङ्कटग्रस्त मनुष्य की सेवा ही कलाकार का सर्वोत्तम गुण है ।

इस घटना को आज ४६ वर्ष होने आये । इन ४६ वर्षों में उस युवक ने, जो आज रोमाँ रोलाँ के नाम से संसार में प्रसिद्ध हो चुका है, हज़ारों ही चिट्ठियाँ लिखी हैं और सहस्रों ही व्यक्तियों के लिए पथ प्रदर्शक का काम किया है। टाल्सटाय की उस एक चिट्ठी ने जो बीज बोया था, वह आज वटवृक्ष के रूप में लहलहा रहा है । रोमाँ रोलाँ के लिखे हुए हज़ारों ही पत्र, जो साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, संसार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास सुरक्षित हैं। जिस दिन टालसटाय ने उस पत्र के लिखने में अपने समय के कुछ घंटे व्यय किये थे, उन्होंने स्वप्न में भी यह ख्याल न किया होगा कि आगे चल कर मेरा यह पत्र इतना सफल होगा ।

इस घटना से पत्र-लेखन-कला का महत्त्व प्रकट होता है । क्या ही अच्छा हो, यदि हम लोग—खास तौर से हिन्दी-लेखक और सम्पादक—इस बात को हृदयङ्गम कर लें । पत्र-लेखन-कला पर अधिक लिखने के पहले एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है, वह यह कि जो आदमी बज़ात खुद अच्छा नहीं है, वह अच्छा पत्र-लेखक हर्गिज़ नहीं बन सकता। कृत्रिम ढङ्ग से लिखे हुए पत्रों की पोल बड़ी आसानी से खुल जाती है। जिस तरह कोई कुशल व्यापारी रुपये को हाथ लेते ही खरे और खोटे सिक्के की पहचान कर लेता है उसी तरह किसी सुसंस्कृत आदमी के लिए स्वभाविक

और बनावटी पत्रों में भेद करना कोई मुश्किल बात नहीं है। इसके सिवा बने हुए पत्र काग़ज़ी नाव की तरह हैं जो चल नहीं सकते। काठ की हाँडी की तरह केवल एक बार आप उनसे काम ले सकते हैं। अच्छा पत्र-लेखक बनना अत्यन्त कठिन है। अन्य क्षेत्रों में तो आपको थोड़े से आदमियों का मुकाबला करना पड़ता है, पर यह क्षेत्र तो ऐसा है, जिसमें दुनिया आपकी प्रतिद्वन्द्विता के लिए खड़ी है, क्योंकि चिट्ठियाँ तो लाखों-करोड़ों ही आदमी नित्यप्रति लिखा करते हैं।

खेद की बात है कि हिन्दी-साहित्य-सेवियों ने इस कला के महत्व को अभी तक नहीं समझा। हिन्दी में अभी तक एक भी ऐसी पुस्तक नहीं निकली, जिसमें इस कला पर विस्तारपूर्वक लिखा गया हो, और जिन महानुभावों ने पुस्तकें लिखी हैं, वे खुद इस विषय के विशेषज्ञ नहीं। इन पंक्तियों के लेखक को चिट्ठी लिखने का एक व्यसन-सा रहा है, और पिछले पचीस वर्ष में उस ने हज़ारों ही चिट्ठियाँ लिखी होंगी और सैंकड़ों ही चिट्ठियों का संग्रह उनके पास है।

हिन्दी क्षेत्र के जितने लेखकों, कवियों तथा सम्पादकों से पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, उनमें पूज्यवर पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा, स्वर्गीय गणेश शङ्कर विद्यार्थी और स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक मुख्य हैं। नवीन लेखकों के नाम हम यहाँ जान-बूझ कर छोड़ रहे हैं। उनका ज़िक्र हम द्वितीय लेख में करेंगे।

यदि पत्र-लेखन-कला के सब गुणों को मिलाकर देखा जाय, तो निस्सन्देह स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा इस कला के आचार्य सिद्ध होंगे। उनका मुक़ाबला करने वाला पत्र-लेखक हिन्दी-क्षेत्र में अब तक कोई नहीं हुआ और न निकट-भविष्य में इसकी आशा ही की जा सकती है। पत्र-लेखन के लिए जिस फ़ुर्सत की आवश्यकता होती है, वह स्वर्गीय शर्मा जी के पास खूब थी, और साथ ही भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इन सब से बड़ी बात यह थी कि वे अत्यन्त सहृदय और ज़िन्दादिल आदमी थे। इसलिए वे कलम के रास्ते काग़ज़ पर कलेजे को उड़ेल कर रख सकते थे। उनकी सम्भाषण-शक्ति और स्मरण-शक्ति भी अद्भुत थी। ग़रज़ यह कि अच्छे पत्र-लेखक में जो गुण होने चाहिए, वे उनमें आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान थे।

पत्र-लेखकों में मि० ऐण्ड्रूज़ के मुकाबले के आदमी बहुत कम निकलेंगे। स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'मोरिया' नामक जहाज़से अपने १५ जुलाई सन् १६२१ के पत्र में मि० ऐण्ड्रूज़ को लिखा था—

'एक बात में मैं आपका मुकाबला करने की आशा भी हर्गिज़ नहीं कर सकता। पत्र-लेखक के हैसियत से आप अद्वितीय हैं।'' इनके बाद गुरुदेव ने लिखा था—''आपके पत्र एक के बाद एक इस प्रकार आते हैं, जैसे प्यासी ज़मीन पर वर्षा का जल, और आपके लिए पत्र लिखना उतना ही स्वाभाविक है, जितना शान्ति-निकेतन के शाल-वृक्षों के लिए वसन्त ऋतु में नवीन पत्रों का धारण करना।''

मि० ऐण्ड्रूज़ की जो प्रशंसा कविवर ने की है, उसमें अत्युक्ति नहीं, पर स्वयं कविवर पत्र-लेखकों में शिरोमणि हैं। जो महानुभाव उनके अंगरेज़ी पत्रों को पढ़ना चाहें, वे जार्ज एलन के यहाँ छपी हुई उनकी 'Letters to a Friend' (एक मित्र को पत्र) नामक पुस्तक पढ़ सकते हैं। इस संग्रहमें अनेक पत्र लाजवाब हैं, और उनका सौन्दर्य तो पढ़ने पर ही प्रकट होता है। कवीन्द्र के बंगला पत्र तो उनसे भी अच्छे हैं।

माननीय श्रीनिवास शास्त्री के पत्र उनकी सुसंस्कृति के प्रबल प्रमाण हैं। उनका एक छोटा-सा पत्र भी पत्र-लेखन-कला का नमूना होता है। उनके हस्ताक्षरों को देखते ही हृदय में उत्कंठा हो जाती है कि पत्र खोलकर जल्दी-से-जल्दी पढ़ा जाय। पढ़ते ही तबीयत खुश हो जाती है। संयत भाषा, चुने हुए शब्द, अद्भुत गुण-ग्राहकता, स्वाभाविक विनम्रता और सहज स्नेह का ऐसा विचित्र सम्मेलन भला और कहाँ मिल सकता है? माननीय शास्त्री जी यद्यपि हिन्दी नहीं जानते, पर कविवर रहीम के निम्न-लिखित दोहे को उन्होंने अवश्यमेव हृदयंगम कर लिया है—

"जे गरीब सों हित करैं, धनि रहीम वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई योग॥"

"प्रिय मित्र और भाई फिक्र न करो। प्रत्येक जाति के जीवन में उन्नति और अवनति के क्रम आया ही करते हैं।" किसी भी निराश व्यक्ति को उत्साहित करने के लिए माननीय शास्त्रीजी

के पत्र टानिक का काम कर सकते हैं। इन पंक्तियों के लेखक की तरह के लाखों ही आदमी शास्त्रीजी को चाहे जब मिल सकते हैं, पर शास्त्रीजी की उदारता भी अद्‌भुत है।

शास्त्रीजी के पत्रों की मधुर स्मृति बहुत दिनों तक बनी रहती है, पर इससे विपरीत कोटि के पत्र भी कभी-कभी हमें मिलते रहते हैं, और उनमे किसी भी सहृदय मनुष्य के हृदयाकाश में दुख की घटा छा सकती है। प्रशंसा से जो प्रफुल्लित न हों और निन्दा से जो विचलित न हों, ऐसे मनुष्य सन्त-समाज में ही पाये जाते हैं।

यदि आपको कोई लिखे—"तुम धूर्त हो, मूर्ख हो, पाखण्डी हो, भांड़ हो, अहंकारी हो, आडम्बरी हो, पतित हो, बेपेंदी के लोटे हो, तुम्हारा कोई सिद्धांत नहीं, कोई इमानदारी नहीं,' तो इस विष का पान करने के लिए आपको भगवान शिवशंकर की योग्यता प्राप्त करनी होगी। हमारे साहित्य-क्षेत्र का दुर्भाग्य है कि ऐसे पत्र-लेखक हमारे यहाँ विद्यमान हैं, और वे अपने तथा दूसरों के जीवन में कटुता का प्रवेश प्राय: किया करते हैं। इस प्रकार के अनेक पत्र पाकर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिन्हें कब्ज़ रहता है—शारीरिक या मानसिक—अथवा जिन्हें मन्दाग्नि अथवा 'अकल अजीरन रोग' है वे ही ऐसी चिट्ठियाँ लिख सकते हैं। जिसका पेट साफ नहीं रहता, उसके लिए पेट का साफ होना मुश्किल है। पत्रों में तो नहीं, हाँ, बातचीत में ऐसी अक्षम्य भूलें

हमसे भी कई बार हो चुकी हैं, और उनका प्रायश्चित्त कर लेने पर भी हमें आज भी उनके लिए लज्जा अनुभव होती है । पत्रों का पेट से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात को हम अच्छी तरह समझ गये हैं । एमर्सन ने एक जगह लिखा है—

" मनुष्य का कर्तव्य है कि वह हमारे लिए जीवन तथा प्रकृति को मधुर बना दे, यदि वह ऐसा नहीं कर सकता, तो बेहतर है कि वह पैदा ही न होता ।"

---